दिव्य सन्देश

डॉ० सूर्य प्रसाद श्रीवास्तव

१९९९

अध्यात्म विज्ञान प्रकाशन

रोहतक (हरियाणा) भारत

१२४ ००१

दिव्य सन्देश
डॉ० सूर्य प्रसाद श्रीवास्तव,
'कनुप्रिया'
श्री रामचन्द्र पुरम्
खीरी रोड, (काशी नगर)
लखीमपुर-खीरी (उ० प्र०)
२६२ ७०१

Divya Sandesh
Dr. Surya Prasad Srivastava
Kanupriya
Shri Ram Chandra Puram
Kheri Road (Kashi Nagar)
LAKHIMPUR KHERI (U.P.)
262 701

संस्करण–प्रथम ३० अप्रैल, १९९९

Edition : First 30th April, 1999

सर्वाधिकार–लेखकाधीन

© Author

आई.एस.बी.एन ८१-९००५७३-२-४

I.S.B.N 81-900573-2-4

मूल्य : १५०-००

Price : Rs 150-00

प्रकाशक :
अध्यात्म विज्ञान प्रकाशन
पाराशर भवन, सैनीपुरा
रोहतक (हरियाणा) भारत
१२४ ००१

Publisher :
AdhyatmaVijnana Prakashan
Parashar Bhawan,
Sainipura
ROHTAK (Haryana) INDIA
124 001

मुद्रक :
पंकज प्रिन्टर्स
५३६/ए गली नं० ४ ए
विजय पार्क मौजपुर
दिल्ली–११००५३

Printed at :
Pankaj Printers
536/A, Gali No-4A, Vijay Park
Maujpur Delhi-110053
Phone : 2262850

समर्पण

दिव्यता
और
साधारण मानवता
की
सहज समरसता
के
प्रतिष्ठापक
समर्थ सद्गुरु
को
अध्यात्म शती
के
सिंह द्वार
पर
सादर समर्पित

(त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पितम्)

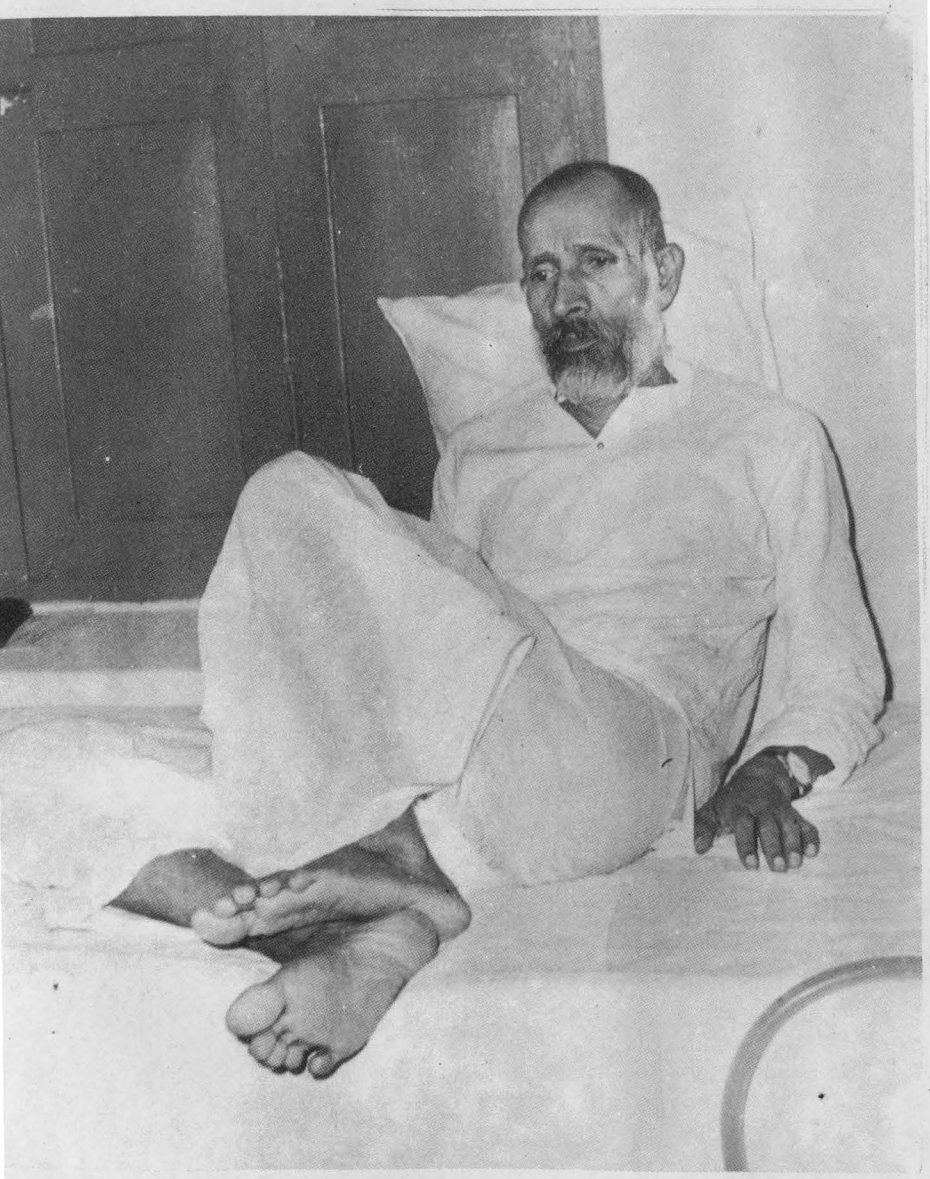

पूज्य श्री बाबूजी महाराज

"मैं शिष्य नहीं खोजता हूँ; मैं समर्थ सद्गुरुओं
का निर्माण करता हूँ।"

प्रकाशकीय वक्तव्य

बसन्त पञ्चमी, ३० अप्रैल और संस्थापक दिवस आयोजनों पर डॉ० एस.पी. श्रीवास्तव द्वारा प्रसारित सन्देशों का सिलसिला समर्थ सद्गुरु श्री बाबूजी के आदेश और इच्छा के अनुसार उनके जीवन काल में ही शुरू हो गया था। महासमाधि के बाद भी सन्देशों की शृंखला को यथावत् जारी रखना समर्थ सद्गुरु के प्रति अनन्य निष्ठा और कर्त्तव्य का परिचायक है।

यथार्थतः 'दिव्य सन्देश' एक रूहानी सफ़रनामा (आध्यात्मिक यात्रा वृत्तान्त) है। इन सन्देशों के माध्यम से साधकों के लिए अध्यात्म सम्बन्धी, दुरुह और जटिल विषयों और धारणाओं को रहस्य एवं रूढ़िवादिता के आवरण से बाहर निकालने का प्रयास किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह एक श्रेष्ठ अध्यात्मवेत्ता हो या एक साधारण जिज्ञासु, अध्यात्म पथ पर वह एक यात्री/साधक ही होता है। अध्यात्म और उस के आगे ब्रह्म विद्या एक अनन्त यात्रा है और दिव्य सन्देशों से उस यात्रा में साधक को समुचित मार्ग दर्शन मिलता है। यहाँ यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि समय-समय पर प्रसारित इन सन्देशों का समसामायिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिक क्रम होते हुये भी इन सन्देशों की विषय वस्तु और उसका सार्थक विवेचन कालातीत है।

'दिव्य सन्देश' वस्तुतः दिव्य हैं; क्योंकि मूलतः ये उस दिव्य स्तर/स्रोत से निःसृत हैं, जहाँ पर शून्यता परिव्याप्त होती है और अभिव्यक्ति मौन से प्रादुर्भूत होती है। कहा गया है : 'सद्गुरु का मौन व्याख्यान और शिष्यों के संशयों का निराकरण होना' (गुरोस्तु मौन

व्याख्यानम्, शिष्यास्तु उच्छिन्न संशयाः)। उस मौन अवस्था में एक लहर सी प्रवाहित होती है, जिसे सूक्ष्म स्पन्दन कह सकते हैं और उस स्पन्दन में प्राण प्रतिष्ठित है। इस प्राण–प्रवाह में डूबकर वापसी नहीं होती है। वैदिक ऋषियों ने इस प्राण के संचरण को मनस् पटल पर आत्मसात् करके दिव्यता का साक्षात् दर्शन किया था इसीलिये वैदिक मनीषियों को 'ऋषि' (ऋषि दर्शनात्) कहा जाता है। तत्पश्चात् उस दर्शन की विषय वस्तु को भाषा में वैदिक मन्त्रों के रूप में संरचना कर अपने शिष्यों को सुनाया इसी कारण वेदों को श्रुति भी कहा गया है। यदि सहजता से इन सन्देशों का स्वाध्याय करें तो इनमें आर्ष–ध्वनि गुञ्जरित मिलेगी।

इन सन्देशों में प्राण संचरित है जिसे 'प्राणों का प्राण' कहना भी अतिशयोक्ति न होगी। प्रत्येक विवरण या प्रस्तुति, चाहे वह सन्देश हो या अन्य कोई गद्य अथवा पद्य संरचना, उसके दो पक्ष होते हैं–स्रोत और अभिधेयार्थ। भाषा तो मात्र एक माध्यम है। स्रोत का तात्पर्य उस केन्द्र से है जहाँ से वे निःसृत हों, भाषा में रूपान्तरित होते हैं और अभिधेयार्थ वह लक्ष्य है जिसकी सम्पूर्ति के लिये वे निःसृत होते हैं। दिव्य सन्देश बौद्धिक सीमा से परे होते हैं और उनकी प्रामाणिकता पारबौद्धिक स्तर से ही सिद्ध हो सकती है; जहाँ पर कि इन्द्रियजन्य अनुभव पंगु हो जाता है और ऐसा साक्षात् दर्शन होता है कि बुद्धि मूक हो जाती है–'एकमेव दर्शनं मौनमेव दर्शनम्'। यह साक्षात्करण शुद्ध वैज्ञानिकता से ओतप्रोत है और इसकी प्रामाणिकता हथेली पर रक्खे आँवले के समान होती है (हस्तामलकवत्)। तात्पर्य यह है कि बुद्धि 'अथ' से शुरू होकर 'इति' पर ठहर जाती है। ज्यों-ज्यों स्वभाव में साधना के फलस्वरूप सरलता-सादगी-विनम्रता बढ़ती जाती है; त्यों-त्यों अथ स्रोत की ओर और इति अभिधेयार्थ की ओर प्रसरित होते जाते हैं। धीरे-धीरे जब परिपूर्णता आती है अथ और इति के परे **सत्य का उदय** होता है और **अनन्त की ओर** प्रयाण के साथ-साथ **दिव्य दर्शन** का साक्षात्कार होता है। फिर तो बस यही कहना समीचीन रह जाता है : कैसा अथ ! कैसी इति !! –अर्थात् कहाँ शुरु, कहाँ खतम !!!

पाठकों से विशेष अनुरोध यह है कि सही की प्राप्ति और गलत से दुराव की प्रवृत्ति मानव स्वभाव में निहित होती है। यदि पाठकों को इन सन्देशों को समझने में कहीं या किसी पंक्ति, शब्द अथवा अक्षर पर खटक अर्थात् कठिनाई महसूस हो तो वहीं ठहरकर सरलता से आलेख को फिर से पढ़ें और इस पुनर्प्रयास द्वारा उस खटक को समझने का प्रयास करें। साथ ही, अच्छा होगा यदि पूर्वाग्रह से मुक्त हो समर्थ सद्गुरू के प्रति समर्पण भाव से पढ़ा जाये। फिर भी यदि कठिनाई हो तो आलेख को एकाग्रता के साथ सहज भाव से धीरे-धीरे पढें और पंक्ति-दर-पंक्ति ही नहीं, अक्षरश : समझते हुये स्वाध्याय करें। श्रेयस्कर होगा यदि कई बार स्वाध्याय किया जाये।

'दिव्य सन्देश' के इस संकलन के उद्भव और उद्गम के विषय में डॉ. श्रीवास्तव ने आरम्भिक प्राक्कथनात्मक स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर दिया है। उन की आस्था और स्थापना के अन्तर्गत इस संदेश–सरणि का स्रोत समर्थ सद्गुरू ही है; किन्तु इस विषय में स्पष्टीकरण की आवश्यकता ही कतिपय कठिनाई की संकेतक है। अतः समर्थ सद्गुरु के स्थूल शरीरावसान के बाद उन के द्वारा संस्थापित और विकसित पद्धति के सातत्य के सम्बन्ध में विवाद की पृष्ठ भूमि के संदर्भ और परिप्रेक्ष्य में हमें इस प्रकाशन के प्रणेता/रचयिता के रूप में डा. श्रीवास्तव का नाम उपयोग करने को विवश होना पड़ा है, यद्यपि उन्होंने अपने द्वारा इनकी प्रस्तुति पर ही बल दिया है, जो इस विषय की परम्परा के सर्वथा अनुरूप है।

अतएव प्रस्तुत 'दिव्य सन्देश' संकलन को श्रद्धेय 'बाबू जी' के स्थूल शारीरिक अस्तित्व के उपलब्ध न रहने के पश्चात् डॉ. श्रीवास्तव द्वारा प्रस्तुत किये गये सन्देशों तक सीमित रखा गया है। जो संदेश संग्रह श्रद्धेय समर्थ सद्गुरू की जन्म शताब्दी तिथि के अवसर पर प्रकाशित किया जा रहा है में कुछ अन्यत्र प्रकाशित भी हो सकते हैं, कुछ अप्रकाशित सामग्री पर आधारित हो सकते हैं, और अधिकांश सर्वथा मौलिक, सामयिक समस्या मूलक और श्रुत लेख पर आश्रित हैं।

समर्थ सद्गुरु श्री बाबू जी सभी का कल्याण और मार्ग दर्शन करें। इसी सदाकांक्षा के साथ अध्यात्म विज्ञान अध्यात्म विज्ञान की परम्परा के जिज्ञासुओं की माँग पर यह 'दिव्य सन्देश' संग्रह हमारे सुधी पाठकों के प्रति सादर सस्नेह समर्पित हैं।

बुद्ध पूर्णिमा
३०/४/१९९६
रोहतक

अध्यात्म विज्ञान प्रकाशन
संयोजक
अध्यात्म विज्ञान प्रकाशन, रोहतक

प्राक्कथन

समर्थ सद्गुरु श्री बाबूजी महाराज की महासमाधि के बाद सद्गुरु के संदेश, जो कि श्री बाबूजी तथा श्री लाला जी के वार्षिक जन्मोत्सवों पर हर साल दो बार प्रसारित किए गये हैं, उनकी तारीख, समय एवं अवसर आदि से सम्बन्धित प्रश्न मुझसे पूछे गये हैं कि ये संदेश कब दिये या प्रसारित किए गये।

जैसा कि मैंने अनेक अवसरों पर स्पष्ट किया है कि समर्थ सद्गुरु श्री बाबूजी का अप्रकाशित साहित्य, जो कुछ प्रकाशित है उससे कहीं अधिक है। सद्गुरु श्री बाबूजी द्वारा लिखित सभी पुस्तकें भारत व विदेश के अनेक अभ्यासियों को लिखे गये पत्रों एवं यदा-कदा लिखाये गये लेखों से संकलित की गई हैं, खास तौर से श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर, के संगठन तथा सहज मार्ग साधना के आध्यात्मिक अभ्यास की स्थापना तथा विकास के शुरुआत के वर्षों में।

मैं श्री बाबूजी के सम्पर्क में सन् १९५५ में आया। कई सम्मान्य भाई, जैसे श्री राघवेन्द्र राव और डॉ० के० सी० वरदाचारी आदि, आपके पास प्रायः उसी समय आये थे। शीघ्र ही सद्गुरु श्री बाबू जी ने अपने नाम से प्रकाशित होने वाले प्रकाशनों को अन्तिम रूप देने का काम मुझे देना शुरू किया। मैं आपके एक पत्र का संदर्भ दे रहा हूँ :–

"मैं डॉ० के० सी० वरदाचारी के ख़त की नक़ल आपको भेज रहा हूँ। आप 'वायस रिअल' किताब को उसके मुताबिक़ दुरुस्त कर दें; और उसको इस तरह कीजिए कि छपाई के लिए भेजने से पहले उसको मेरे देखने की जरूरत न रहे। जरूरत के लिहाज से हर चीज को सही रूप में लाने के लिए जहाँ कहीं भी दुहराव वगैरह हो दुरुस्त

कर दीजिए। उसके बाद इस किताब के लिए एक दिबाचा (फोरवर्ड) लिखिये और फिर इस किताब को दिबाचा के साथ मुझे भेज दीजिए ताकि इसे एक बार फिर से पढ़ने के लिए डॉ० वरदाचारी को भेज सकूँ।''

जब आपसे (श्री बाबूजी से) विभिन्न अवसरों पर संदेशों की माँग शुरू हुई तो आपने मुझसे उपयुक्त संदेशों को तैयार करने के लिए कहा, जिनका सार आपके द्वारा बताए गये उर्दू के लघु उद्धरणों पर हो जैसे 'असीरों करो अब रिहाई की बातें,' 'उजड़ी हुई बस्ती है टूटा हुआ पैमाना', 'जिसमें जितना होश है उतना ही वह बेहोश है' आदि आदि। आपकी ज़रूरत के अनुसार संदेशों को तैयार करने में मैंने आपके अप्रकाशित पत्रों का उपयोग किया।

श्री बाबूजी की महासमाधि के बाद आपकी शोहरत और काम को धूमिल करने वाली बहुत सी भ्रान्तियों को दृष्टि में रखकर मैंने यथासंभव आपके योगदान के प्रकाशन तथा संदेशों की श्रृंखला को जारी रखने का निर्णय किया। आपकी कीर्ति और यश को हमेशा (शाश्वत) सुलभ बनाने के लिए मुझे उन सभी लोगों से, जो आपमें अनुरक्त हैं, सहयोग की कामना और आशा है।

निर्वाणोपरान्त संदेशों की निश्चित तारीख, स्थान और संदर्भ आदि से सम्बन्धित भिन्न दिशाओं से मिले प्रश्न कभी-कभी समर्थ सद्गुरु से मेरे सम्बन्ध और अनुराग के बारे में मेरी निष्ठा और ईमान पर सन्देह करते हुए प्रतीत होते हैं। मैं सिर्फ एक निवेदन कर सकता हूँ कि श्री बाबूजी के प्रियजन इसी से मतलब रखें कि संदेशों द्वारा जो कुछ अभिप्रेत (बताया गया) है 'वह सही है या नहीं'। यदि सब सही है, तो संदेह और भ्रान्ति का अवसर, जो सद्गुरु से प्राप्त सच्चे लाभ में कमी करके साधक के भरोसे व विश्वास को दूषित करे, नहीं होना चाहिए। मुझे याद आती है; और सभी को श्री बाबूजी का अपना स्पष्टीकरण बताना चाहता हूँ। किसी ने आपसे पूछा कि आप जो लिखते या बताते हैं वह आपके सद्गुरु का या आपका अपना है। आप का उत्तर था कि ''सभी कुछ सिर्फ मालिक का ही है, सिवाय उन

गलतियों के जिन्हें तुम खोजकर निकाल सको। इन्हें आप मेरी मान सकते हैं।''

इस प्रकार मैं चाहता हूँ कि मेरे सभी भाई बहनें इन थोड़ी सी सेवाओं को स्वीकार करते रहें और फायदा उठाते रहें जो समर्थ सद्गुरु के असीम प्यार और कृपा स्वरूप सभी को मिल रही हैं। हमें लहरों की गिनती करते हुए समुद्र को नहीं खोना है, जैसा कि अक्सर होता है। यह और भी अधिक दुःखद होगा कि अपने दिल और दिमाग की तरंगों में फंसकर लहरों के साथ-साथ समुद्र को भी खो दें।

वर्तमान समय की बहुत-सी स्थितियों में हम दिल और दिमाग की ऐसी तरंगों का हिसाब लगा सकते हैं। मुख्य तरंग अपने सर्वोच्च महत्त्व की ओर निर्देश करती है ताकि सिर्फ समर्थ सद्गुरु के लेखों और विचारों पर ध्यान दिया जाए और उन्हीं से सम्बद्ध रहा जाए। यह मुख्य तरंग दो प्रकार की है। उनमें से एक वर्तमान मालिक को ही ध्यान और लगाव के योग्य मानती पहचानती है। लोगों की बहुत बड़ी संख्या इस तरंग की इस हद तक शिकार होती है कि अपने दिल की ताकतवर तरंग द्वारा गुरु के मरणोपरान्त उनके योगदान को नकार देने को बाध्य कर दी जाती है, यदि उस योगदान को उनके किसी वर्तमान गुरु द्वारा औपचारिक मान्यता और अनुमति न मिले जिसे भूतपूर्व गुरु के स्थान पर बिठाने को वे सहमत हैं, और जैसा वे कहना पसन्द करते हैं तथा व्यवहार करते हैं।

दिल और दिमाग की उपर्युक्त मुख्य तरंग का दूसरा प्रकार अनेक अभ्यासियों को उस सच्चे गुरु की खोज करने और उसमें अनुरक्त रखने का काम करता है। जो चाहे शारीरिक रूप से अनुपस्थित हो लेकिन किसी दूसरे को उस सच्चे गुरु का स्थान नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार की मुख्य तरंग स्वभावतः हर उस चीज के बारे में जो सच्चे गुरु की ओर से प्राप्त कहकर प्रस्तुत की जाती है, उसके दिन, स्थान, प्रसंग को खोजने, पूछताछ करने के लिए बाध्य करती है। सद्गुरु के शारीरिक रूप से न रहने के कारण किसी व्यक्ति द्वारा सद्गुरु से प्राप्त होने का दावा किए जाने पर उन्हें सही रूप से उसे सुनिश्चित और प्रमाणित करने की आवश्यकता महसूस होती है।

किसी के दिल और दिमाग की इस दूसरे प्रकार की मुख्य तरंग के तल में छिपी हुई एक अन्य धारा होती है जो ऐसा निहित दृढ़ विश्वास उत्पन्न करती है कि पूज्य सद्गुरु के सोचने और लिखने का तरीका नक़ल से परे है और उसकी नकल नहीं की जा सकती और न ही नकल करने का प्रयास करना चाहिए। यह विश्वास सही अर्थों में उपयुक्त है। सद्गुरु के जीवन-काल में अनेकों वर्षों तक उनके सोचने, काम करने और लिखने के तरीके से जो लोग सुपरिचित हैं, उन अभ्यासियों को सद्गुरु और उनके वास्तविक योगदान को उसकी नक़ल से अलग करने के काबिल होना चाहिए। यदि असल वस्तु की नक़ल की संभावना के सम्बन्ध में किसी के दिल और दिमाग की तरंग शंका उत्पन्न करती है तो वह खुद वैसा लिखने का प्रयास कर सकता है। यह फिर समुद्र तल या उसकी तरंगों के बहुत नीचे स्थित एक अन्य मौन सुस्थिर तरंग को सक्रिय कर सकती है कि नकल से परे की सही नकल मूल स्रोत, जो कि स्वयं सद्गुरु है, की अत्यन्त विशिष्ट कृपा से ही संभव है। ऐसी स्थिति में कोई शंका व संदेह उत्पन्न ही नहीं होगा जो किसी के दिल की आवाज़ ही को हिला दे, कि लहरों में लय हो जाने और अन्ततः समुद्र में डूबने की कीमत पर अपने दिल और दिमाग़ में लहराती तरंगों में खोने के लिए उसे पथभ्रष्ट कर सकें।

निष्कर्ष रूप में सन्देश एक उद्देश्य को पूरा करने के लिए होता है। यदि उद्देश्य पूर्ण होता है तो इसे सही समझना चाहिए। दूसरी बातें भी महत्त्वपूर्ण हो सकती हैं और इन दूसरी-बातों की खोज करने में कोई हानि नहीं है, जहाँ तक कि वह मूल उद्देश्य न गुम हो। ताजे पानी के प्याले से सर्वप्रथम प्यास बुझानी चाहिए और बाद में आवश्यकता और सामर्थ्यानुसार उसके स्रोत आदि के विषय में खोज की जा सकती है। हिन्दी भाषा में एक सामान्य और मशहूर मुहाविरा है–'आमों की मिठास का स्वाद उन सब पेड़ों को, जिनसे वे प्राप्त होते हैं, गिनने में नहीं खोना चाहिए'। उनके प्रियजनों तक जो कुछ आता है, उसकी विषय वस्तु और स्रोत सद्गुरु को ही मानना चाहिए। ईश्वर करे सभी को उन्हीं से हमेशा वरदान का लाभ मिले।

–डॉ० एस. पी. श्रीवास्तव

विषय-सूची

समर्पण	
प्रकाशकीय वक्तव्य	**क-घ**
प्राक्कथन	**च-झ**
१. आध्यात्मिक सेवा	१
२. मेरी पद्धति मेरा कार्य	४
३. प्रशिक्षण-देहान्तर प्रशिक्षण	६
४. यह और वह	१४
५. गृहस्थ और संन्यास	१६
६. विनम्र सेवा	२१
७. सद्गुरु की तमन्ना	२६
८. अध्यात्म	३०
९. दिवंगत श्रेष्ठजन से अन्तः संसर्ग	३३
१०. गुरुआई का पद	३८
११. मूर्ति-पूजा	४४
१२. आध्यात्मिक संस्था	५०
१३. सुप्रभावी साधना	५४
१४. सही रास्ता	६०
१५. सेवकाई	६४
१६. पूर्णता	६७
१७. ईश्वर क्या है ?	७०
१८. मन्मत और गुरुमत शिष्य	७४
१९. श्रेष्ठतम शिष्य	७९

२०. आध्यात्मिक हालत ८४
२१. अध्यात्म का उद्देश्य ९०
२२. सींक की ओट पहाड़ ९५
२३. अध्यात्म की कठिनाई ९९
२४. उत्थान और पतन १०५
२५. वास्तविक पूजा ११०
२६. मनुष्य : विवेक-विचार ११६
२७. समर्थ सद्गुरु : वास्तविकता और उत्तराधिकार ११९
२८. अध्यात्म विज्ञान : परम्परा और भविष्य १२४
२९. परलोक : यथार्थ अनुभूति १२७
३०. अध्यात्म-शती : सिंह द्वार १३०
३१. अध्यात्म विज्ञान : परम्परा एवं रूपरेखा १३४

संस्थापक दिवस समारोह

३२. 'एक' का अनुसन्धान १३७
३३. एक ही समर्थ सद्गुरु, उसका एक ही मिशन १४०
३४. गुरुभक्ति : प्रदर्शन और असलियत १४३
३५. समर्थ सद्गुरु की समुचित शागिर्दी १४६

● ● ●

आध्यात्मिक सेवा

—रूहानी ख़िदमत—

(३० अप्रैल, १९८४)

जिस ने अपना शीशये दिल साफ़ कर लिया, उसको उस खटक का एहसास होता है, जो ईश्वरीय मंडल में होती है। ऐसा ही शख़्स अभ्यासी के दिल को साफ़ करके उसमें रोशनी डाल सकता है। जो शख़्स गुरु बन कर मैदान में तालीम देने आता है, तो इसका मतलब यह हुआ कि वह ईश्वर का रुतबा अख़्तियार करना चाहता है, क्योंकि ईश्वर ही सब का गुरु है। ज़ाहिर है कि एक मुल्क़ में दो बादशाह नहीं रह सकते। इसका नतीज़ा यह है कि जो शख़्स गुरु बनकर तालीम देता है, वह सही माऽनों में फायदा नहीं पहुँचा सकता। इसलिये लाज़िम है कि वह अपने को एक तुच्छ भाई समझे, और ऐसा ही व्यवहार अमल में लावे। इस तरह की बिरादराना ख़िदमत के लिए किसी जद्दोजहद की दरकार नहीं, बल्कि इस पाये पर पहुँच कर मुअल्लिम से तालीम की ख़िदमत खुद-ब-खुद रवाँ होती है, जैसे कि सूरज से रोशनी और गर्मी।

मुझको अगर एक रूहानी ख़ादिम समझा जाये तो निहायत मुनासिब हो। मैं रूहानी ख़िदमत तो करता ही हूँ जिस्मानी भी करने में मुझे कोई आऽर नहीं है। मेरे गुरु महाराज सब को अपना भाई समझते थे। किसी के चेला होने का ख़्याल उनको उम्र भर कभी पैदा ही नहीं हुआ। अब इस मामले में पहले ज़माने का तरीक़ा बदलना चाहिए। पहले ज़माने के गुरु साहबान चेलों से ख़िदमत लेते थे, हाथ पैर दबवाते थे, और पैर छुआते थे। इसलिए कि उनका संस्कार ईश्वर मार्ग के लिए बन जावे। हाथ दबवाने और पैर छुआने में उनके

विश्वास में वह शक्ति जो गुरु में मौजूद थी, उनके जिस्मों में पैवस्त हो जाती थी, और उनके ख़्याल का अटकाव भी ख़िदमत की तरफ़ रहता था, यानी अभ्यासी का ख़्याल गुरु की तरफ़ राग़िब रहता था, जिससे अभ्यासी की पवित्रता बढ़ती थी। अब ज़माना की तब्दीली से यह तरीक़ा बदल जाना चाहिए, यानी अगर यही ख़िदमत तालीम देने वाला अभ्यासी की करे, तो भी अभ्यासी को वही फ़ायदा होगा जो गुरु की ख़िदमत से मिलता था।

रूहानी तरक़्क़ी में एक स्थिति ऐसी आती है कि उसमें रूहानी शक्ति ख़ुद-ब-ख़ुद फैलने लग जाती है और उसका फ़ैलाव यहाँ तक हो जाता है कि उसकी यह ताक़त कुल वायुमण्डल और लोकों में छा जाती है। अगर कुदरतन यह होता है कि हर चीज चार्ज हो जाती है, और यह कैफियत तब होती है जब कुदरत किसी शख़्स को चुन लेती है और उसकी हैसियत अवतारी हो जाती है। उसको अवश्यावतार कह लें, यानी आवश्यकता के लिए ऐसे व्यक्ति को बना लिया जाता है। यह चिह्न जिस समय मिलें, कह लेना चाहिए कि कुदरत उसमें होकर अपना काम कर रही है। ऐसा शख़्स बिना तालीम दिये रह नहीं सकता और असल में वही मुकम्मल तालीम कुनिन्दा है। यद्यपि ऐसा शख़्स हज़ारों वर्षों में पैदा होता है, और फिर भी उसकी कृपा से यह असम्भव नहीं कि किसी वक़्त में पैदा कर दे।

ऐसा आदमी मिल जावे तो तलाश करना चाहिए। और महात्माओं का फैलाव तो ज़रूर होता है, किन्तु जब असल ख़्याल ईश्वरीय तत्त्व में शामिल हो जाता है, तब यह बड़ी हालत पैदा होती है। इससे जितने नीचे दर्ज़े पर ख़्याल का लय होता है उतने ही नीचे दर्ज़े पर फैलाव होता है। अगर कोई ऐसा अवतारी मिल जाता है, और अगर कोई अभ्यासी उसके फैलाव और विस्तार में अपने को लय कर डाले, और जिस हद तक उसका भी फैलाव हो जाता है। जहाँ से कशिश होती है, मैं वहाँ जाने को मजबूर हो जाता हूँ। मेरे यहाँ हर शख्स का स्वागत है। हम आप हाथ पैर पटका करते हैं, होता वही है जो वह चाहता है।

''बे रज़ा-ए-तू मयस्सर नेस्त दीदारे शुमा।।

(बिना आपकी मर्ज़ी के आपका दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता)।

यह सवाल है काफी टेढ़ा और अहम कि कोई हज़रत क़िब्ला लाला जी साहब से सीधा सम्पर्क कर सकता है या नहीं। मैं तो उनका हल्क़ा-ब-गोश हूँ, और आप सब का हाथ उन्हीं के हाथ में देता हूँ। लिहाज़ा जब लोग उनसे मेरी बहबूदी वग़ैरह के लिए प्रार्थनाएँ करते हैं, तो मुझे ठीक लगना लाज़मी है। मेरी बेहतरी और मेरा काम ख़्वाह जिस्मानी हो या दिगाग़ी वग़ैरह, सब उन्हीं पर मुनहसिर है। अभ्यासी जो कुछ भी करता है, आख़िर में उसी को फ़ायदा या नुक़सान पहुँचता है। उसमें अपने फ़ायदा नुक़सान की समझ की कमी को मैं अपनी तालीम की ख़ामी मान लेता हूँ। मुमकिन है इससे भी लोगों को फ़ायदा पहुँच जाता हो। रूहानियत में तरक़्क़ी का ज़रिया सब से ज़्यादा एकसूयी है। मैंने तो जो कुछ पाया अपने समर्थ गुरु महाराज से हासिल किया। सिर्फ़ ग़लतियाँ ख़ुदकर्दा कहीं, बल्कि अमूमन वह भी उन्हीं से मन्सूब समझीं। मेरे लिए यह उन्हीं का मर्तबा और मक़दूर था, और किसी का नहीं। अतः मैंने सिर्फ़ उन्हीं से मतलब रक्खा, और उन्हें देखा तो आँखें फोड़ लीं, कि और कुछ कहीं देखने की गुञ्जाइश ही नहीं रह गई।

हर कि मा करदेम बा ख़ुद,
हैच ना-बीना न कर्द।
दरमियाने ख़ाना गुम
करदेम साहब-ख़ाना रा।।

(हमने अपने साथ जो किया, वह तो किसी अन्धे ने भी अपने प्रति नहीं किया। हमने तो घर के बीच में ही घर के मालिक को खो दिया)

और तब उस मालिक ने ख़ूब ख़ुश होकर कहा :

''सोख़्तन बर शमअ कुश्ता कारे हर परवाना नेस्त।''

(बुझी हुई मोमबत्ती पर जल जाना हर पतंगे के बस की बात नहीं)

रूहानी तालीम और अभ्यास का बस यही अहमतरीन नुक़्ता है।

●●●

मेरी पद्धति और मेरा कार्य

(बसन्त पञ्चमी, १९८५)

मेरा तजुर्बा वसीऽअ नहीं है। मैं इतना जानता हूँ कि कुछ नहीं जानता हूँ। मैंने अपनी ही किताब देखी जिसमें इल्म ग़ायब था। अंधा होकर चला। मुझको यह भी नहीं सूझा कि मैं क्या कर रहा हूँ। न यह मालूम था कि क्या रास्ता अख़्तियार किया है। न मुझे यह मालूम था कि मेरा मक़सद वाक़ई वहाँ तक है जहाँ तक मैं आप सबसे कहता हूँ कि होना चाहिए। मेरी निगाह, सिवाय उस पवित्र व्यक्तित्व के जिस का मैं दिलदादा हूँ, किसी तरफ नहीं रही। मैं हमातन उसी की तरफ हो रहा था। और कुछ ग़रज़ नहीं रखी। अब भी मेरा वही हाल है, फ़र्क़ यह है कि अब यह भी तमीज़ नहीं रही।

अंधे को कुछ नहीं सूझता और जब मैं ऐसा बना तो वाकई मुझ को कुछ न मालूम पड़ता था। महान् भक्त सूरदास ने अपनी आँखें फोड़ ली थीं, जिस से वह बातें न देखें जो देखने के लायक नहीं हैं। और मैंने क्या किया कि अपनी दृष्टि-शक्ति (बसारत) को उसी तरफ फिरा दिया था, ऐसी हालत में दुनिया के रूप का वजन मेरे दिल पर नहीं रहा।

हम इन्सान वहाँ है जहाँ से हमको ख़ुद हमारी भी कुछ ख़बर नहीं आती। दूसरे शब्दों में वह स्थिरता अथवा निष्क्रियता (Inactiveness) हम में कुदरती तौर पर मौजूद है; जहाँ समासम का एक भाव कह सकते हैं। हर चीज़ की पैदाइश इसके बाद हुई है। हम इस मंजिल पर छोटाई (विनम्रता) से पहुँच सकते है और छोटाई भी ऐसी कि जिसकी हमको भी खबर न हो। हमको बड़ाई पर पहुँचना है मगर बड़ाई एकसानियत को कहते हैं; और वह भी कैसी कि

जिसकी हमको खबर न हो। अगर हम अपने को बड़ा समझते हैं तो यह ख़्याल सिदे राह (मार्ग की बाधा) हो जाता है। और हम किधर के भी नहीं रहते हैं। किसी लाइन में किसी मुक़ाम पर और किसी समय अपने को किसी से हरगिज़ बड़ा नहीं समझना चाहिए। ज़रा गौर कीजिए क्या खूब कहा है "वह ऐब नही जो बे-ऐब न हो"। शायद इसका मतलब निम्न लिखित पद्य से कुछ निकल सके:

"गाहे शादम् व गह ग़मगीन, अज हाले खुदम् ग़ाफ़िल
कि मी गिरियम् व मी खन्दम् चूँ तिफ्ल अन्दर ख़्वाब।।

(मैं कभी प्रसन्न हूँ और कभी दुःखी, अपनी हालत से गाफ़िल रोता हूँ और हँसता हूँ, जैसे कि स्वप्न देख रहा कोई बच्चा।)

दूसरों को तालीम देने के लिए आवश्यक वास्तविक स्थिति पर पहुँचे बिना दूसरों को ट्रेनिंग (प्रशिक्षण) देना शुरू करने का परिणाम प्रशिक्षक का पतन हो सकता है। असल इज़ाज़त उस वक्त दी जाती है, जबकि इन्सान के दिल पर यह वजन न आये कि तालीम कर रहा हूँ। और यह हालत अपना आपा मिटा देने पर होती है। ऐसे व्यक्ति को अलावा ईश्वर का हुक्म बजा लाने के और काम नहीं होता। उसे अच्छाई-बुराई से मतलब नहीं, अपने और गैर से तऽल्लुक़ नहीं। उसके लिए आज्ञा जो कुछ है सो है।

मालिक का काम कभी नहीं रुक सकता। यह रूहानी आन्दोलन जल्दी ही पूरे कमाल पर पहुँचेगा। रूहानी तरक्की के इच्छुक को किसी भी पाये पर संतुष्ट नहीं होना चाहिए। काफ़ी (पर्याप्त) का विचार कतई छोड़ देना चाहिए। हमारे समर्थ सद्गुरू ने कहा कि वे अपने जीवन में कभी संतुष्ट नहीं हुए और उसके बाद तम की उच्चतम दशा में आगे की लगातार तैराकी है। सच बात तो यह है कि समुन्दर का लम्बा चौड़ा विस्तार पार करना किसी के लिए भी संभव नहीं हो पाया। जब उच्चतम मुक्त आत्मा की यह स्थिति है तो कमतर लोगों के लिए क्या कहा जाये। "बिसियार सफ़र बायद तो पुख़्ता शवद ख़ामी"। (सफर लम्बा होना चाहिए जिससे कि कच्चापन पक जाये)।

अन्दरूनी ताक़त से सभी दोष दूर हो जाते हैं। मुमकिन नहीं कि इन्सान दोष दूर करना चाहे और वह दूर न हो सके। पुरानी कहावत हैं 'हिम्मते मर्दा मददे ख़ुदा' (साहसी मनुष्यों की परमात्मा सहायता करता है।) मुझको अपने सद्गुरु की सोहबत लगभग एक दर्जन से अधिक बार नसीब न हुई; किन्तु मुझे कभी यह ख़याल पैदा न हुआ कि मैं उन से दूर हूँ। हमेशा अपने आप को उन से नज़दीक समझा और उन से डरता रहा कि कहीं कोई ऐसी हरकत न हो जाये जो आप को ना पसन्द हो। यह ख़याल यक़ीन के पाये पार होना चाहिए कि मालिक हर वक़्त साथ मौजूद है। यह वह हालत व बातें हैं; जो आइंदा ज़िन्दगी बनाने में मददगार होती है। एक तरीक़ा मैं आपको बताता हूँ कि जब कभी कोई बात ऐसी पैदा हो जावे तो जल्द से जल्द वह मुझको मंसूब कर दी जाये यानी यह समझ लिया जावे कि वह मेरी ग़लती व दोष थे। नुस्खा आसान है मगर मुअस्सर (प्रभावशाली)। जब मेरे एक अभ्यासी भाई ने मेरी पद्धति पर आक्षेप किया कि यह मालिक के प्रति बेहद बदतमीजी और अनादर की बात होगी, तो मैंने उत्तर दिया था कि वह निःसन्देह ऐसा ही होगा, यदि मैं अपने सद्गुणों और अच्छी बातों को अपना समझूँ और मालिक से अलग अपने से मंसूब करूँ या फिर ऐसी हालत में भी जब कि मालिक पूर्ण न हो।

हमारा सब का फ़र्ज़ है कि जिस तरह हो सके एक दूसरे की मदद करें। 'बनी आदम अज ज़ाए यक दीगरन्द' (मनुष्य एक दूसरे के अंग है।) वे एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। मैं अगर ज़बान से अथवा अन्य स्थूल रूप में नहीं तो हृदय से अवश्य सभी के कल्याण की प्रार्थना करता हूँ। एक रूहानी हालत होती है जिस में कि तबियत अपने आप परमात्मा की सृष्टि के कल्याण और भलाई के लिए राग़िब उद्दिष्ट रहती है। दुआ वह ठीक है कि दुआ करने वाले को यह पता न चले कि दुआ कर रहा है और दुआ होती रहे। पता चलने में यह डर है कि दुआ-गो में अहमियत आ जावे। अगर कहीं दुआ के अनुसार काम हो गया तो दुआगो अपने को वरगुज़ीदा बंदा (विशिष्ट भक्त)

समझने लगता है। यद्यपि इसमें भी हर्ज नहीं बस नियत नेक हो। मूलतः सब कहीं हृदय का महत्त्व होता है।

अब अपने से ऊपर उठने की आवश्यकता है। जरा लौ लगाकर तो देखिये यह है क्या चीज़। अफसोस है कि यह चीज़ हिन्दुओं के घर की है; और वह खुद ही नहीं समझते। बस वजह यह है कि हमें उसके समझने की फुर्सत ही नहीं, गोया कि मुसलमानों के विचार के अनुसार मुहम्मद साहब क़यामत (महाप्रलय) के दिन कौम की सिफ़ारिश कर के जन्नत दिलवा देंगे, हालाँकि यह भी पता नहीं कि क़यामत के बाद जन्नत (स्वर्ग) आदि रहेंगी भी या नहीं !

अध्यात्म के क्षेत्र में अनेकता या भिन्नता विष होती है। जब हम अपने को बड़ा समझते हैं तो मुहब्बत की परवाज़गी नहीं होती। अगर हम अपने को तुच्छ समझ लें तो हमारा जी उसकी ख़िदमत करना चाहेगा यह अख़लाक़ है। एक फ़कीर ने कहा है कि मैं अपने को किसी नीच से या अधम से ऊँचा समझूँ तो मैं अपने दर्जे से गिर जाऊँगा। हम लोग अब सिर्फ जाति से इज्जत और ऊँचाई समझने लगे हैं सभी जातियाँ एक संदूक के ख़ाने हैं। वक्त ज़रूरत पर संदूक ही मंगवाया जाता है न कि उसके ख़ाने। यह सब ख़ाने एक ही कारीगर के बनाए हुए हैं। इन्तजामन ख़ाने बना दिये गये हैं। अगर आप संदूक खोलेंगे तो सब ख़ाने एक दूसरे में मिले हुए पावेंगे और उन सब की बुनियाद लकड़ी होगी या लोहा होगी। क्या अच्छा कहा है।

'नीच नीच सब तर गये संत चरण लवलीन।
जाति के अभिमान से बूड़े सकल कुलीन'।।

जाति की व्यवस्था की जड़ पर प्रकृति की ओर से कुल्हाड़ी चल चुकी है। यक़ीन करें कि इसे समाप्त होना है, और कालान्तर में ऐसा ही होगा।

अपनी दृष्टि आन्तरिक दृश्य की ओर घुमाओ; और यह जानो कि तुम्हारे सामने फैली हुई दुनिया मेरी है, जिससे कि तुम मुक्त हो सको। मैंने अपना स्वर्ग दूसरों के लिए छोड़ रखा है और अपने को

दूसरों की कठिनाइयों और दुःखो का निशाना बनाया है। मुझे अपनी मुक्ति की भी चिन्ता नहीं। मेरे पास दो चादरें हैं एक सफेद दूसरी काली। ऊपर कही हुई बाद वाली अर्थात् काली चादर दूसरों की कठिनाईयों और दुःखों से बुनी हुई है, जिनके धब्बों से मैं प्रशिक्षक होने के नाते बच नहीं सकता। अपने दुःख दर्द की गिलाफ़ को दूर कीजिए, जिससे मैं उन्हें भोग सकूँ। और मुझे उन्हें भोगने दीजिए। वह मेरी काली चादर पर उनकी वृद्वि होती जायेगी और आप की चादर केवल सफेद ही रहेगी।

मालिक का काम हमेशा बिना रुके चलता रहे। मेरे प्रियजन उसमें मालिक की पद्धति का अनुसरण करते हुए भागीदार बनें। यही मुक्ति और उसके आगे, और उसके आगे का सही और एक मात्र रास्ता है।

●●●

प्रशिक्षण—देहान्तर प्रशिक्षण

(३० अप्रैल, १९८५)

'बहार' और 'बाग़' की सैर तो सब को पसन्द आती है। जो ख़ामोश-तबियत हैं, वह तो चल फिर कर सैर करते हैं, और जो चंचल तबियत हैं, वह मंजीरा और करतालों से अपनी तृप्ति कर लेते हैं, और समझ लेते हैं कि बस सैर हो गई। मगर जो अपने प्रियतम (परमात्मा) की याद में है, उसकी सैर तो इसके बिल्कुल विरुद्ध है। प्रेम करने वाले को झनकार और ललकार की गड़बड़ी से मतलब ही क्या ? उसे तो वही चीज़ पसन्द आयेगी, जो मालिक के ठिकाने की ख़बर दे। उसका ठिकाना तभी मिलता है जब हमारे मनोरंजन सब समाप्त हो जाते हैं, और हम उनके चमत्कार से ऊँचे उठ जाते हैं।

घर का बड़ा-बूढ़ा जब बीमार होता है, तो बच्चों की फ़िक्र व निग़ाह ज्यादा हो जाती है। वज़ह इसकी यह मालूम होती है कि बीमारी की तक़लीफ़ सामने होती है, और उसका ख़याल। इसलिए और ख़याल उसको परेशान नहीं करते। बच्चे जो सामने आते-जाते रहते हैं, मोहवश उन पर ख़याल जाता है। या यों कह लें कि उन्हें देख कर मोह पैदा हो जाता है। यही चीज़ है जो मौत के वक़्त फँसाव का कारण बन जाती है। लोभ बहुत बुरी चीज़ है, और मेरे ख़याल से सब गुनाहों की माँ, और मोह फँसाव का कारण। मतलब की बात यह है कि तक़लीफ़ की हालत में रूहानी काम, सिवाय ख़ास जरूरी चीज़ के आटोमेटिक नहीं रहता। इसलिए रूहानी परिवार पर निगाह ज़्यादा जाती है। वह इस वजह से कि उनका ख़याल या याद मुझ पर जल्दी असर करती है। किन्तु जब आटोमेटिक काम होता रहता है तो कम लगाव वालों की आवाज़ मुझ तक कठिनता से आती है। ऐसी हालत में मैं अपनी कोशिश से अक्सर उनकी याद कर लिया करता हूँ।

इससे मतलब यही निकलता है कि हमारी तेज़ बीमारी भाइयों-बहनों के लिए बहुत मुफ़ीद है और लोग यह चाहते हैं कि मैं तन्दुरुस्त बना रहूँ, और कोई जिस्मानी कष्ट न हो। मैं समझता हूँ, उन बेचारों को अब तक यह ख़बर न थी कि मेरी तेज़ बीमारी उनकी 'आध्यात्मिकता' को तेज़ करने के लिए लाभदायक है।

मेरे दर्द और तकलीफ़ से सत्संगियों को जो लाभ मिलता है, उससे आगे अब जिस्म छोड़ने से क्या फ़ायदा पहुँच सकता है और जिस्म छोड़ने वाले को क्या लाभ होता है, इस बात पर आता हूँ। ठीक तरह से पूर्णता शरीर छोड़ने के बाद ही होती है, इसलिए कि उस वक़्त सब सीमाएं जिस्म की जो कुछ न कुछ शरीरधारी अवस्था में रहती हैं, समाप्त हो जाती हैं। कबीर ने कहा है–

''जा मरिबे ते जग डरै, सो मोहिं अति आनन्द,
कब मरिहौं कब पाइहौं, पूरन ब्रह्मानन्द''

हमारे यहाँ अब इतनी विशेषता ज़रूर बढ़ गई है कि जिस्म रखते हुए पूरी पूर्णता प्राप्त हो सकती है : और यह हमारे गुरु महाराज की ईज़ाद है। इतनी बात ज़रूर होती है कि इस हालत के पहुँचे हुए मनुष्य में कुछ सीमाएं ज़रूर क़ायम कर दी जाती हैं, जिससे ऐसा न हो कि प्राणाहुति (Transmission) करते समय कुल ईश्वरीय शक्ति तालीम पाने वाले में दाख़िल हो जावे और उसका स्नायु-मण्डल छिन्न-भिन्न हो जाये। मेरी यह हालत पैदा हुई थी, जिसकी वजह से तालीम पाने वाला आधे मिनट की भी तवज्जह सहन न कर सकता था। श्री लालाजी महाराज ने मुरव्वत की वजह से सीमाएं (Limitations) नहीं डालीं। जब मैंने देखा कि ऐसी हालत में मैं किसी को सिखा नहीं सकता था, तो मजबूरन गुरु महाराज से प्रार्थना की। उन्होंने ज़रूरी बन्धन डाल दिये और यह वादा भी किया कि जब तुम कहोगे मैं यह बन्धन तोड़ दूँगा। मगर इसकी ज़रूरत मुझे कभी नहीं पड़ी।

अब गुरु के शरीर छोड़ने के बाद सत्संगियों को यह फ़ायदा पहुँचता है कि सिखाने वाले की कुल कमाई हिस्सारसदी दीक्षित

(initiated) अभ्यासियों में पहुँचती है। इसके अलावा एक चीज़ यह भी है कि जिसमें प्रेम और लय-अवस्था जितनी ज़्यादा है उतना ही उसको हिस्सा ज़्यादा मिलता है। और ऐसे ही लोग सिखाने वाले के दुनिया से कूच कर जाने के बाद भी उससे फ़ायदा उठाते रहते हैं, और उन्हीं के ख़्याल के तार की झनकार वहाँ पहुँच सकती है। लय-अवस्था से बहुत फ़ायदे हैं क्योंकि जब अपना आपा मिटा दिया तो बस वही रह जाता है जिसकी तलाश है। जिस हद तक अभ्यासी अपनी लय-अवस्था कर लेता है उसी हद तक वह क़ामयाब है। तभी मैं पुकार-पुकार कर कहता हूँ कि लय-अवस्था हासिल करो। मगर लोगों को अपने से फ़ुर्सत ही नहीं, उस तरफ़ कौन घूमे। हर शख़्स यह चाहता है कि मैं ही अपनी ताक़त से सब कुछ कर दूँ। यह तो अभ्यासी का कर्त्तव्य है। लय-अवस्था न सही, मुरव्वत की वजह से थोड़ा बहुत मैंने किया भी; लेकिन जब घूम कर देखा तो फिर दुनिया भर का मलगोवा उनके विचार के अनुसार अन्दर भरा हुआ पाया। अब मैं उसको साफ़ करता चलूँ और वह उसको भरते चलें तो मेरी मेहनत से फ़ायदा ही क्या ! अगर अभ्यास भी ठीक तरह से करते चलें तो भी मेरी डाली हुई रोशनी में अन्धेरा शामिल न हो।

दूसरा फ़ायदा जो सिखाने वाले के शरीर छोड़ने के बाद सीखने वाले को होता है वह यह है कि बिल्कुल शुद्ध (ख़ालिस) फ़ैज़ अभ्यासी को मिलता है और उस क़िस्म की तालीम भी उनको मिलती है जिसकी जानकारी ज़्यादातर सिखाने वाले को शरीर छोड़ने के बाद प्राप्त होती है। और भी दो-एक बातें ऐसी हैं जिनको ज़ाहिर करने के लिए शब्द नहीं मिलते। मैं अपना क़िस्सा सुनाता हूँ। गुरु महाराज ने अपने शरीर छोड़ने के बाद भी मुझे मौजूदा हालत में लाने के लिए बारह साल और लिए; और यह कहा कि "अभी मैं वक़्त और लेता। मगर जब मैंने यह देखा कि तुम कुछ दिनों के बाद किसी को सिखाने के योग्य न रहोगे, तो मैं मजबूर हुआ।" बात यह थी कि मैंने, जहाँ तक मुझे याद है, निषेध (negation) का भी निषेध करना शुरू कर दिया था जिसका नतीज़ा यह होता कि मैं व्यावहारिक दृष्टि से नगण्य (nil) हो जाता, और अगर उसके बाद वाली हालत जो निषेध के

निषेध को भी भूल जाने की अवस्था कही जा सकती है उस पर आ जाता, तो मुमकिन था कि शरीर छूट जाता।

अपनी बीमारी और शरीर छोड़ने के बाद जो लाभ सत्संगियों को होता है उस से आगे एक बात और लिख रहा हूँ ताकि बात पूरी हो जाये। सिखाने वाला यदि उच्च सामर्थ्य का है तो उसको प्रतिनिधि क़ायम करना ही पड़ता है। अगर उसके शिष्यों में, उसके शरीर छोड़ते समय तक, तैयार नहीं है तो उसको इन्तज़ार करना पड़ता है। यहाँ तक कि मैंने देखा कि एक गुरु ने अपने दुनिया से जाने के डेढ़ सौ वर्ष बाद अपना प्रतिनिधि क़ायम किया था। स्वामी विवेकानन्द जी ने महा- समाधि लेने के बहुत समय बाद अपना प्रतिनिधि स्थापित किया और जब उनको अपने मिशन में अपनी इच्छा का व्यक्ति न मिला तो अपना कनेक्शन दूसरी संस्था से जोड़ कर क़ायम कर लिया। बात क्या है : असल में प्रतिनिधि इस योग्य होना चाहिए कि कुल ताक़त को ग्रहण कर सके, क्योंकि गुरु की कमाई (जो वास्तव में गुरु है) सब यहीं रह जाती हैं, और कोई जब इस योग्य नहीं मिलता तो कहीं इकट्ठी सुरक्षित कर देते हैं। अब इसके अर्थ यह हुए कि गुरु के जीवन में ही शिष्यों को इस योग्य बनना चाहिए कि उनमें से किसी एक को अपना प्रतिनिधि चुन सके। मैंने तो अपना हाल अपनी डायरी में लिखा है। लालाजी साहब ने जब महासमाधि ली तो मुझे कुल ताक़त एकदम से अन्दर और बाहर अनुभव होने लगी और मैं यह समझ गया कि यह ताक़त ट्रान्सफ़र की हुई है। उसके बाद ही उनके महासमाधि लेने की ख़बर मिली। इसको ग्रहण करने में मेरे सब स्नायु गड़बड़ हो गये और सख्त बीमारी के बाद, जो स्नायुओं की गड़बड़ की वजह से थी, इसको अपने अन्दर रख सका। अब उनकी कमाई तो मेरे पास है और मेरी जो कुछ भी कमाई हो वह भी है। गोया गुरु की दी हुई चीज़ को मैंने कुछ बढ़ाया ही है, घटाया नहीं। अब मेरे बाद यह भी कहीं ट्रान्सफ़र होगी और इसकी मुझे फ़िक्र भी रहती है। इस वक्त़ तक कोई अभ्यासी मालूम नहीं होता है जो कुल ताक़त को बर्दाश्त कर सके; इसलिए कि लोग ऐसा बनने की कोशिश नहीं कर रहे हैं। ऐसा न हो कि मुझे भी बरसों इन्तज़ार करना पड़े।

प्रतिनिधि में कुल कमाई दाख़िल हो जाती है। फिर उसके ज़रिये से दीक्षा प्राप्त सदस्यों को हिस्सारसदी पहुँचती है। ताक़त का केन्द्र प्रतिनिधि ही रहता है और उसका अंतःसंसर्ग अपने गुरु से रहना लाज़मी है ताकि वह उनके आज्ञानुसार उनका काम चला सके और उनके हुक्म की पाबन्दी दूसरे लोग भी कर सकें। अन्य शिष्यों को भी, अगर काफी तरक़्क़ी कर चुके हैं, सिर्फ़ उनके मुताल्लिक इशारे मिलते रहते हैं। और जिस हालत पर प्रतिनिधि पहुँचा हुआ होता है दूसरे सत्संगी भी पहुँच सकते हैं। फ़र्क सिर्फ़ इतना रहता है कि वह अपने गुरु की शक्ति का केन्द्र होता है और गुरु उसमें स्वयं लय होता है।

यह गुरु के जाने के बाद का फ़ायदा है। लोगों ने गुरुआई को जाने क्या समझ रखा है। असली गुरु का अस्तित्व मोमबत्ती की तरह सब को रोशनी देता हुआ लगातार ख़त्म होता है। रोशनी से फ़ायदा उठाने वालों को अपने फ़ायदे से मतलब रहता है, और रोशनी का स्रोत (source) क़ायम रखना जाने कौन कब कहाँ तै करता है। मेरे बारे में, अपने गुरु महाराज से मेरे पहली बार मिलने के पहले ही तै हो चुका था, जिसका पता जाने कब किसे हुआ, ख़्वाह न हुआ। रूहानियत के मैदान में यही परम्परा है। चिराग़ को जलने और रोशनी फैलाने के अलावा किस बात से ग़रज़ हो सकती है, और बुझी हुई शमा का पतिंगा कोई जर-बिल्ला ही होता है। मैं तो जब गुरु महाराज की कृपा से उनके दिये रास्ते पर गामज़न हुआ, तो बस एक उन्हीं का सहारा था और फिर :

'लोग साथ आते रहे, और कारवां बढ़ता गया।'

लालाजी साहब की 'मुहब्बत' का हद-हिसाब नहीं हो सकता। उन्होंने मेरा प्रतिनिधि भी काफ़ी पहले मुक़र्रर कर लिया है, जिसका मुझे अभी पता नहीं; हालांकि मुझे उनकी तरफ़ से हर बात की आज़ादी है। अपने प्रतिनिधि का प्रतिनिधि तैयार करने की हिदायत भी उन्होंने दी है। ऐसा नायाब समर्थ गुरु सबको नसीब हो। मैं सब से बार-बार यही कहता हूँ कि उनके जैसे सिखाने वाले के अहल बनो। मुमकिन है इस विषय में मेरी मिसाल मददगार साबित हो।

●●●

यह और वह

(भौतिकता और आध्यात्मिकता)

—बसन्त पंचमी, १९८६—

शरीर और भौतिकता, वास्तव में 'यह' है और आत्मा एवं असल तत्त्व हमारा वास्तविक 'वह'। उसका इसके द्वारा ढक जाना एक से अनेक की ओर जाने की प्रक्रिया है; और इसका पर्त-दर-पर्त उधड़ कर उस तक पहुँचने का वापसी-सफ़र हमारे देश की मुख्य देन है। यह अनेक से एक तक वापसी का सफ़र, बहुधा लम्बा होता है, और इसे छोटा करने का तरीक़ा केवल सर्वशक्तिमान् स्वामी पर निर्भरता और (उसकी) पर्याप्तता ही हो सकता है। जोड़ने-घटाने का विषय काफ़ी कठिन भी है और अत्यन्त सरल भी। इस उलझन-युक्त पहेली की कुञ्जी 'इस' और 'उस' के द्वैत से आगे और अलग असल केन्द्र या आधार के साथ सही प्रकार का लगाव ही है। हमारी पहली यात्रा अपने शून्य को भौतिकता की सम्पन्नता और दौलत में लपेट कर ठोस रूप में प्रस्तुत करने की थी; और अब वापसी का सफ़र सामने है। पहला सफ़र जितना बड़ा होता है, दूसरा उतना ही मुश्किल। यही ऊँट का सुई के नाके से निकलने की कहावत की व्याख्या है।

अपने शून्य के एक लम्बे सफ़र का विवरण भौतिक विज्ञान का विस्तार है; और अपने एक से शून्य तक की वापसी का मज़मून आध्यात्मिकता की स्पष्ट विवृति का प्रतिबिम्ब। 'इस' और 'उस' के आगे तो बस जो है सो है। मानव की पहुँच से परे तो कुछ भी नहीं, लेकिन इस समय तो 'यह' और 'वह' अपने सम्पूर्ण अस्तित्व के ज्ञान की सीमा है। 'इस' के विषय में आधुनिक विज्ञान बहुत कुछ मालूम कर रहा है किन्तु 'उस' के बारे में तलाश पूरी होकर भी अधूरी है।

'यह' और 'वह' समाप्त होकर एक अविभाज्य समग्रता के विकास की प्रतीक्षा अब सहज मार्ग की वास्तविक देन है। इसके पूर्णतः प्रकाशित होने में सभी के सही सहयोग की आवश्यकता है। 'इस' और 'उस' का सन्तुलन हर व्यक्ति की वैयक्तिकता की सारी समस्याओं का सही समाधान है, और यही किसी संस्था या कहें सम्पूर्ण मानवता की सही प्रगति का स्रोतबिन्दु है। सहज-मार्ग का सम्पूर्ण सन्देश बस इतना ही है।

सहज मार्ग देश और काल की सीमाओं और बन्धनों से परे सम्पूर्ण मानव संस्कृति की शताब्दियों की आशाओं की परिपूर्णता का आश्वासन लेकर आया है। वैयक्तिकता से परे शाश्वत सिद्धान्त के रूप में सदैव विद्यमान सहज मार्ग के संस्थापक की कृपा सबको प्राप्त हो। सहज मार्ग के संस्थापक अपने लिए आकुल प्रियजनों के निरन्तर समीप हैं और रहें।

●●●

गृहस्थ और संन्यास

(३० अप्रैल, १९८६)

गृहस्थ और संन्यास का मसला बहुत पुराना है। तुम्हें मालूम है कि बुद्ध जी ने जब मुझ से कहा कि उन्होंने गृहस्थी छोड़ कर और हर प्रकार से संसार त्यागने की कठिनाइयों से गुज़र कर ही वह हालत प्राप्त की थी जो मनुष्य के जीवन के उद्देश्य की पूर्ति कही जाती है, तो मेरे जी में आया कि कह दूँ कि जब मुझे सब कुछ, संसार का सब कुछ त्याग किये बग़ैर मिल गया, तो गृहस्थी छोड़ने की क्या आवश्यकता ! लेकिन चूंकि इतनी बड़ी शख़्सियत (व्यक्तित्व) के समक्ष था, और ऐसे अवसर के अदब की शर्तें भी मालूम नहीं थीं, अतः मैंने क़िब्ला लालाजी साहब से अर्ज़ किया कि 'बुद्ध जी ऐसा कह रहे हैं,' तो लालाजी साहब ने इतना ही कहा कि 'वह जो कुछ कह रहे हैं उन्हें कहने दो, और ध्यान से सुनों। सवाल जवाब की ज़रूरत नहीं।' ऐसी असीम मुहब्बत की मिसाल उन (लाला जी साहब) के अलावा भला कहाँ मिल सकती है !

वास्तव में बातें दोनों ठीक हैं, लेकिन जाने कहाँ ! घर-परिवार रिश्ते-नाते वालों के लिए कितना ही कुछ किया जाए, वह हमेशा कुछ न कुछ शिकायत ही करते रहेंगे। अतः सही कदम यही है कि अपना कर्त्तव्य करना और बदले में कोई उम्मीद न रखना; बल्कि उतना ही अपना फ़र्ज़ जानना, जिससे बदले की उम्मीद वाबस्ता (सम्बद्ध) न हो। शरीर रहते यह सम्भव नहीं कि गृहस्थी और दुनियावी रिश्ता पूरी तरह छोड़ा जा सके। कहीं न कहीं, कुछ न कुछ रिश्ता आवश्यकता के अनुसार स्थापित हो ही जायेगा; और फिर तरह-तरह के तौर तरीक़े, आचरण-चरित्र के विधि-निषेध के हज़ार-दास्तान का सिलसिला और बन्धन क्रियान्वित करने होंगे। पवित्रता सम्बन्धी तपश्चर्या और

परहेज़गारी के ज़बर्दस्त जंजाल में रूहानियत की सादगी और स्वच्छन्द उड़ान खो जाना सर्वथा स्वाभाविक है। यही सब धार्मिक आध्यात्मिकता को दुर्गम और दुरुह बनाते रहे हैं। सहज मार्ग की सादगी इसी वजह से नक़ाब (पर्दा) बन गई है।

बुद्ध जी के समय के कुछ बाद एक तरीक़ा आया, जो मौजूद पहले भी था, लेकिन उस पर उतना बल नहीं था। वह तरीक़ा प्रेम का है। वह यूं कि जो कुछ भी अपना है, सब प्रेम के द्वारा मालिक को सुपुर्द हो जाये, यानी-'दिल ब दस्ते-दिगरे दादनो हैरां बूदन'। (अपना हृदय किसी दूसरे के हाथ में दे देना, और हैरान होना कि यह क्या हो गया)। ऐसा होने पर सारे रिश्ते उस दूसरे से जुड़ जाते हैं, जो वाहिद वजूद (एक मात्र अस्तित्व) है, और जिस पर सभी कुछ निर्भर है। जब यह हो गया तो फिर कुछ शेष नहीं रहता। तपस्या यानी ज़ोहद्-व-तक़वा (परहेज़गारी और पवित्रताई आदि) करामात की शक्ति पैदा करके ख़ुदी (अहंता) को मज़बूत करते हैं। इस तरह से पैदा हुई पवित्रता आदि अच्छी चीज़ों में यह कमी रहती है कि वह मोक्ष का साधन नहीं बन सकतीं। प्रेम का रास्ता आरम्भ से ही आत्म-विस्मृति यानी ख़ुद को भूलने की वादिये एमन (स्वर्गिक घाटी) से गुज़रता है। यह आध्यात्मिकता के आरम्भ-बिन्दु आज़ाद-परवाज़गी (स्वच्छन्द-उड़ान) या मोक्ष-गति का सबसे आसान तरीक़ा है।

नमाज़े ज़ाहिदां सिजदा-सजूद अस्त
नमाज़े-आशिक़ाँ तर्के-वजूद अस्त।

(परहेज़गार तपस्वियों की नमाज़ सिजदा में झुकना आदि होती है, प्रेमियों की नमाज़ अपने अस्तित्व का त्याग होती है।)

जब अपना अस्तित्व मालिक के अस्तित्व में लय हो गया, तो गृहस्थी और दुनियावी फ़रायज़ (कर्त्तव्यों) की अंज़ाम-देही (पूर्ति) की लग़ाम दूसरे के हाथ में पहुँच जाती है, और दुनिया का नक़्शा बदल जाता है। यहाँ पहुँच कर गृहस्थ और संन्यास का फ़र्क़ नहीं रह जाता है। इधर के रिश्ते कट जाते हैं और महबूब (प्रियतम) से जुड़ जाने के कारण उनकी रंगत ही कुछ और हो जाती है। तमाम कष्ट और

परेशानियाँ आदि मोक्ष पैदा करने वाली तपस्या का रूप धारण कर लेते हैं। यह बहुत आसान है, किन्तु इसकी व्याख्या और विवृति (वज़ाहत) बेहद मुश्किल। मुहब्बत का दम भरना तो हर कस व नाकस के मुँह का निवाला (कौर) बना हुआ है, किन्तु असल मोहब्बत बहुत नायाब (कम प्राप्त होने वाली) है, जिसमें न ख़ुद (अपने) का पता रह जाता है न मुहब्बत का। नक़ल से असल पैदा ज़रूर होती है, लेकिन नक़ल से पैदा हुई असल और सचमुच की असल में फ़र्क़ रहता है।

कैसी अजीब बात है कि लोग मेरी तीसरी बिटिया या चौथा बेटा आदि बनकर मुझे अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ चलाने की लगातार कोशिश करते हैं और मेरी अपनी औलाद पर तोहमत (लाँछन) लगाते हैं कि वह मुझे मेरी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ काम करने को मजबूर करते हैं। गोया (यूँ कहें कि) ख़ुद की हिर्स-व-हवस (तृष्णा और वासना) पूरी करने के लिए मुझे बाप बना लेना और मेरी औलाद से सगापन क़ायम करना तो भक्ति में शुमार है (गिना जाता है) और मेरी औलाद (सन्तान) का अपने बाप को अपनी हिर्स-व-हवस (की पूर्ति) का ज़रिया (साधन) बनाने की कोशिश या ख़्वाहिश (इच्छा) उनकी नालायक़ी का सबूत है। मतलब औलाद के ऐब (दोष) को दरगुज़र (उपेक्षा) करना नहीं, लेकिन भक्ति के ढोंग को बेनक़ाब किया जाना चाहिए। दुनिया का दस्तूर (तरीक़ा) और अहले दुनिया (दुनिया वालों) का शऊर (शिष्टता) ख़ूब (विचित्र) है।

अहले दुनिया के लिए रूहानियत भी एक साधन (ज़रिया) है, दुनियावी ख़्वाहिशात (लौकिक कामनाएं) को पूरा करने का। उनकी नज़र (दृष्टि) में असल रूहानियत का मेऽआर (वास्तविक आध्यात्मिकता का माप दण्ड) सभी तरह की दुनियावी कामयाबी (सफलता) और हर तरह की दुनियावी ख़्वाहिशात की तक़मील (सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति) होती है। और वे मालिक से यही सब चाहते हैं और पाते हैं—दौलत व इज़्ज़त (धन और मान), अयाल व अतफ़ाल (परिवार और सन्तान), अहबाब व मुसाहिब (मित्र और चाटुकार), रिश्ता और रुतबा (सम्बन्ध और पद), इल्म व हुनर (विद्या और कार्यदक्षता), शोहरत व फ़ुरसत (प्रसिद्धि व अवकाश), सरपरस्तगी व नुमाइन्दगी (संरक्षण और प्रतिनिधित्व) वग़ैरह (इत्यादि)। असल रूहानियत और फ़ैज़े-कामिल

(सम्पूर्ण लाभ) का ख़्वाहाँ व जूयाँ (इच्छुक और खोजने वाला) शाज़ व नादिर (कभी ही) वजूद-पेज़ीर होता है (अस्तित्व ग्रहण करता है), जो सिर्फ (केवल) मालिक का दिलदादः (समर्पित हृदय) होता है, और उस (मालिक) से कुछ नहीं चाहता, और उस (मालिक) का दिया सभी कुछ कुबूल (स्वीकार) करता है—हत्ता कि (यहाँ तक कि) इन्कार व बेरुखी (निषेध और तिरस्कार) भी। वह 'कुछ नहीं', जो सिर्फ़ (केवल) उस का हुसूल (प्राप्तव्य) होती है, आख़िरकार (अंततोगत्वा) ऐसी चीज़ साबित (सिद्ध) होती है, जिस पर मुन्दर्ज़ा-बाला (ऊपर बताया हुआ) सभी कुछ निसार (निछावर) होता है।

दौलतमन्द (धनिक) और व्यापारी (बनिक) लेन-देन के माहिर (दक्ष) होशियार लोगों को मेरा दुनिया (इहलोक) और उक़बा (परलोक) की मुतवाज़ियत (समान्तरता) का उसूल (सिद्धांत) ख़ूब पसन्द आया, क्योंकि उनकी समझ में यह सौ फ़ीसदी (शतप्रतिशत) मुनाफ़े (लाभ) का सौदा (व्यापार) है, यानी 'पाँचों उँगली घी में'। कहावत का दूसरा हिस्सा मज़ाक़िया भले सही लेकिन सही (ठीक) है कि सिर कढ़ाई में देकर ही पाँचों उँगली घी में हो सकती हैं, या यह कि पाँचों उँगली घी में होने का अंजाम (परिणाम) यही होगा कि सिर कढ़ाई में होगा। ठीक कहा है कि 'सीस दिये जो हरि मिलें, तो भी सस्ता जान'। लेकिन इस सबक़ (पाठ) की ज़हमत (तकलीफ़) कौन गवारा करे (सहन करे), जब 'पैरेलेलिटी' का मज़मून (लेख) उन के हाथ आ गया, और मैंने भी इस लफ़्ज़ (शब्द) को दूसरे बा सलीक़ा (शिष्ट) शब्दों (Parallelism) पर तरजीह (वरीयता) दी, क्योंकि लफ़्ज़ पैरेलेलिटी (Parallelity) का भद्दापन नम्बर दो के हिसाबियों की ज़हनियत (मानसिकता) की सही तशरीह (ठीक विवृत्ति) पेश करता है, जोकि दौलत व हुरमत (धन और मान) के साथ ही रूहानियत व देवताई (अध्यात्म और देवत्व) के आलातरीन (श्रेष्ठतम) रुतबों (पदों) पर क़ाबिज़ (अधिकार और क़ब्ज़ा करने वाले—दो अर्थ) होने के उसूल (सिद्धांत) के दिलदादः (समर्पित हृदय) हैं, और क़ब्ज़ा (अधिकार) व क़ब्ज़ (पेट का रोग) के तअल्लुक़ (सम्बन्ध) व तफ़रीक़ (अन्तर) की समझ से मुबर्रा (रिक्त) व बेबहरा (अपरिचित) हैं।

मैं ब–बाँगे–दुहल (डंके की चोट) हमेशा कहता आया हूँ कि सब कुछ छोड़ कर ही सब कुछ पाया जाता है; और रूहानियत के मैदान में यह नुस्ख़ा दवामी अहमियत (शाश्वत महत्त्व) से सरफ़राज़ (सम्मानित) है। दौलत (धन) और रुतबा (पद) का हुसूल (प्राप्त होना) रूहानियत का मुतज़ाद (व्याघातक) न सही, लेकिन हिर्स व हवस (लालच व वासना) बेशक रूहानी तरक़्क़ी (आध्यात्मिक प्रगति) के मामले में मोहलिक ज़हर (घातक विष) है। सरमद ने खूब (अच्छा) कहा है कि परवाने (पतिंगे) के दिल की सोज़िश (जलन) लालची मक्खी का नसीब (भाग्य) नहीं हो सकती : 'सोज़े दिले परवाना मगस रा न देहन्द'। ख़्वाजा फ़रीदुद्दीन अत्तार की मिसाल मशहूर है। धरमदास को कबीर का नुमाइन्दा (प्रतिनिधि) बनने के पहले अपना सभी कुछ छोड़ना पड़ा। मैं ख़ुद (स्वयं) भी अपने को लुटा और मिटा कर लालाजी साहेब का नाम क़ायम रखने लायक़ (योग्य) हो पाया, जो महज़ (केवल) उनकी नवाज़िश (कृपा) थी, और हमेशा है, और रहेगी। चन्द साहिबान (कुछ लोगों) को यह भी वहम (भ्रम) है कि उनका तऽअल्लुक़ (सम्बन्ध) लाला जी साहब से, मुझ से ज्यादा (अधिक) क़ायम (स्थापित) है, अतः वे मेरी सेहत (स्वास्थ्य) आदि के लिए भी उनसे सिफ़ारिश का दम भरते हैं। वही मसला हुआ कि 'गुरू गुड़ रहा और चेला शक्कर हो गया'। यह मेरी क़िस्मत है– इससे अधिक क्या कहा जाये। मैंने तो बस इतना ही जाना कि कुछ नहीं जाना। जो कुछ भी किया, ख़्वाह (चाहे) हुआ, सब उन (लालाजी साहेब) का करिश्मा है। जो कुछ देना चाहता हूँ, जो कुछ देने को है, वह भी उन्हीं पर मुनहसिर (निर्भर) होगा। अपनी क़िस्मत को भी क्यों रोऊँ, जब कि यह हक़ीक़त (यथार्थ) है कि शेरों के गिरोह नहीं बनते, और हंसों की लम्बी क़तारें नहीं होतीं, लालों की बोरियाँ देखी नहीं गयीं, और सन्त जमाऽअत बना कर नहीं चल सकते। मतलब यह नहीं कि दूसरी चीज़ पहली की अलामत (निर्देशक) हो। हालाँकि (यद्यपि) सूरज के तुलूअ (उदय) होने पर रोशनी (प्रकाश) फैलना लाज़मी (अनिवार्य) है। लेकिन हर रोशनी सूरज के तुलूअ होने की ख़ुशख़बरी (शुभ सूचना) देने वाली नहीं होती।

●●●

विनम्र सेवक

(बसन्त पंचमी, १९८७)

मेरे लिए कितने आनन्द की बात थी, जब मैंने आपको गन्तव्य तक ले जाने वाली यात्रा में, साथी के रूप में प्राप्त किया। आप ने वास्तविक रूप से मार्ग में साथ रहकर अपनी सेवा करने के लिए मुझे प्रोत्साहन प्रदान किया। किन्तु फिर पता नहीं आपको क्या हुआ, कि आपने मेरी सेवा ग्रहण करना छोड़ दिया। यदि आपका विचार बन गया हो कि मैं अब आपकी सेवा के लिए उपयुक्त व्यक्ति नहीं हूँ, तो मैं आपसे अत्यंत सत्यनिष्ठा पूर्वक प्रार्थना करूँगा कि आप सही मार्ग का परित्याग न करें, जो कि अस्तित्व ग्रहण करने वाली आत्मा का प्रमुखतम कर्त्तव्य है। मान लें कि आप अपने साँसारिक कर्त्तव्यों का पूरी सावधानी से पालन कर रहे हैं, लेकिन परमात्म-साक्षात्कार की दिशा में अग्रसर होने के प्रमुखतम कर्त्तव्य की अवहेलना कर रहे हैं; तो ऐसी स्थिति में, मेरे प्रियवर, क्या यह कहना उचित न होगा, कि आप कुछ घोंघे-सीपी इकट्ठा कर रहे हैं और एक साम्राज्य खो रहे हैं। अध्यात्म सहजतम वस्तु है और बहुसंख्यक जन के लिए नितान्त सुलभ, बशर्ते कि वे उस ओर उन्मुख हों। आप अपने को पूर्णतः विसर्जित कर दें, तो आप जिसे खोज रहे हैं, आपके पास होगा। असंख्य जीभें प्रभु की चर्चा में व्यस्त हैं, किन्तु उनका स्वर वास्तविक सत्ता तक नहीं पहुँचता, क्योंकि उनके हृदय उससे सम्पृक्त नहीं हैं। समय हमारे लिए इतना अनुकूल है और प्रकृति इतनी विपुल उदार है, कि हमें प्रत्येक आले और कोने में हर जगह प्रेरणा सहज प्राप्त हो सकती है। उस (परमात्मा) में निवास करने के लिए आप प्रयत्नशील हों और किसी भी साधन द्वारा जो आपके लिए उपयुक्त हो, अपने को विस्मृत करें। मेरी प्रार्थना (दुआ) सदैव बिना इसकी ओर ध्यान दिये

कि वह हमारी पद्धति का अनुसरण करता है या नहीं, हर व्यक्ति के लिए हैं कि वह दिन का प्रकाश देखे और लक्ष्य प्राप्त करे।

योग का मार्ग सुनिश्चित, और अन्य मार्गों से भिन्न प्रकृति का है। वह शुद्ध रूप में दिव्यता (ईश्वरत्व) की हालत आप तक लाता है। ईश्वर सूक्ष्म है, और यदि हम उस जैसे सूक्ष्म हो जायें, तो इसका अर्थ सम्मिलन अर्थात् योग है। योग वहाँ विद्यमान है, जहाँ स्थूलतर प्रकार की पूजाओं का प्रभाव दूर (नष्ट) हो जाता है, क्योंकि आपको उस मैदान तक पहुँचना है, जहाँ शून्य (अनस्तित्व) सर्वोपरि है। दिव्यता के आदर्श तक आने के लिए, सभी कुछ से मुक्त होना पड़ता है। ईश्वर बहुत सरल है, और सरलतम साधनों द्वारा उसका साक्षात्कार प्राप्त किया जा सकता है। यही एक कारण है जो हमें अधिकाधिक सूक्ष्म रूप में विकसित होने के लिए अन्तःप्रेरणा प्रदान करता है। यदि हम किसी प्रकार स्थूलतर हो जायें, तो हमारा अधःपतन होता है। मैं आप के समक्ष स्थिति का सही परिदृश्य प्रस्तुत कर रहा हूँ। यदि किसी को सच्चा पथ-प्रदर्शक मिल जाता है, और वह उस (पथ-प्रदर्शक) का सच्चे अर्थ में अनुसरण करता है, तो जीवन की परिधि के अन्दर ही साक्षात्कार सहज ही सम्भव है। सच्चे पथ-प्रदर्शक को प्राप्त करने में, निस्सन्देह ईश्वर मात्र हमारी सहायता करता है; और वह भी तब जब साक्षात्कार के लिए बेचैनी चरम सीमा तक विकसित हो जाती है। वास्तविक पथ-प्रदर्शक प्राप्त हो जाने का अर्थ समुचित कालान्तर में सुनिश्चित सफलता है। मान लें साधक को सच्चा पथ-प्रदर्शक मिल गया, तो वह स्वभावतः अपने को उसे समर्पित कर देता है, जो कि उस (साधक) का कर्त्तव्य बन जाता है। समर्पण पूर्ण तभी होता है, जब आप उसकी चेतना खो चुके हों। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भी हमें अन्तर्भाग तक निष्ठा (भक्ति) विकसित करनी होती है।

योग विषयक प्रशिक्षण के परामर्शदाता के रूप में, उन सिद्धांतों और प्रविधियों को निर्धारित करना मेरा कर्त्तव्य हो जाता है, जो योग में अपेक्षित है। योग की अपनी विशिष्ट चिन्तन प्रणाली है, और इस प्रणाली के अन्तर्गत लोगों ने उच्च श्रेणी की प्रगति प्राप्त की है। इस (योग प्रणाली) ने उच्च प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति उत्पन्न किये हैं। अतः किसी को इसके विरुद्ध कुछ कहने का साहस नहीं हो सकता। चूंकि

मैं योग पद्धति का अनुसरण करता हूँ अतः मैं अपने साथियों से उसका अनुसरण करने के लिए कहता हूँ, जिससे कि मैं सर्वोत्तम सम्भव सेवा प्रदान करने के योग्य हो सकूँ। केवल योग प्रणाली द्वारा ही बन्धन की कड़ियाँ सरलता पूर्वक तोड़ी जा सकती हैं, क्योंकि इसमें चिन्तन शक्ति कार्य करती है, जो कि मुख्य शिरा है। मैं स्वयं अभ्यासियों को बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने के लिए सहायता प्रदान करता हूँ। मेरा उद्देश्य यही है कि आप इस सीमा तक उन्नति करें, जो इसी जन्म में मुक्ति लाभ करा सके।

मैं नहीं जानता मैं क्या हूँ। किन्तु अपने विषय में जो कुछ मैं सोचता हूँ वह यही है कि मैं मानवता का सेवक हूँ, और इसी रूप में सेवा करता हूँ। जब मेरे एक सुयोग्य साथी ने स्वीकार किया कि उस ने दो वर्ष के निरन्तर अभ्यास के बाद अन्य लोगों के प्रति भाइयों जैसा व्यवहार करना सीख पाया था, तो मैंने उत्तर में उसे बतलाया कि मैंने बाईस वर्ष के सुव्यवस्थित लगातार अभ्यास के बाद जन-सामान्य की सेवा करना सीखा। दूसरे शब्दों में जब मुझमें सेवा का विचार था, तो मैं सेवक हूँ जबकि आप मालिक (स्वामी) हैं। मन को अनुशासित करने का यह सर्वोत्तम उपाय है, और मैं इस प्रकार का विचार अपने साथियों में, विशेषतः प्रशिक्षकों में चाहता हूँ। यदि प्रशिक्षक समुचित अनुशासन के मामले में त्रुटि-पूर्ण है, तो मिशन (संस्था) का जीवन ही समाप्त (नष्ट) हो जाता है। हमें सीखना चाहिए कि प्रेम कैसे किया जाता है। निष्ठा (भक्ति) का सम्बन्ध हृदय से है और खुशामद मन-मस्तिष्क से सम्बद्ध होती है। प्रशिक्षक में किसी प्रकार की अनुशासन-हीनता मुझे सहन नहीं होती। मैं निःसंदेह सम्पूर्ण विश्व में आध्यात्मिकता का प्रसार करना चाहता हूँ; किन्तु मैं अपने समर्थ सद्गुरु (स्वामी) के आदर्श का किसी रूप में भी बलिदान नहीं कर सकता। इसी लिए मैं मिशन (संस्था) में ऐसे तत्त्वों को प्रविष्ट नहीं करता जो आगे चल कर मिशन के ध्येय को क्षति पहुँचाएँ, और दूसरों के समक्ष मिशन की भद्दी छवि प्रस्तुत करें। मानवीय घटक वास्तव में, कहीं भी घटित हो सकते हैं, किन्तु वास्तविक सिद्धान्त अन्ततः समुचित समय में लागू होने में असफल नहीं हो सकता।

पूर्ण मानव वह है जो सभी के हित का ध्यान रखता है और किसी के प्रति ईर्ष्या नहीं रखता। लोग जन्मते और मरते हैं। यह जन्म-मरण का चक्र है। जो विनम्र समर्पण की भावना से अपनी कुछ भी चिन्ता किये बिना, प्रभु से सम्पृक्त रहते हैं, वे पीढ़ी दर पीढ़ी याद किये जाते हैं। हमारा व्यवहार सभी के प्रति स्वामी के साथ सेवक जैसा होना चाहिए : मिशन (संस्था) का चरित्र (स्वरूप) ही ऐसा है कि हमें दूसरों के अनुसरण के लिए उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए। हमें सभी व्यक्तियों के प्रति ऐसा विनीत भाव रखना चाहिए कि लोगों की यह धारणा बने कि हम अहंकार से लगभग पूर्णतः मुक्त हैं। यदि आप अपने स्वामी (मालिक) को अन्तर्भाग तक प्रेम करते हैं, तो आप अनुभव करेंगे कि इसका प्रभाव अन्य लोगों के मन मस्तिष्क को अभिभूत कर रहा है और वे चुम्बक की ओर लोहे की भाँति आकर्षित होंगे। जो व्यक्ति सामान्य हित (शुभ) की अपेक्षा अपनी अधिक चिन्ता करता है, वह अन्य लोगों की सेवा के लिए वास्तविक रूप में उपयुक्त व्यक्ति नहीं हो सकता।

कृपया, आप यह न सोचें कि मैं लम्बे पत्र पढ़ने में थक जाता हूँ। मैं अपने साथियों की आध्यात्मिक स्थितियों का विस्तृत विवरण सदैव चाहता हूँ। यह उनके लिए भी हितकर होता है, क्योंकि वे मुझे कुछ लिखने के लिए स्थितियों पर ध्यान-पूर्वक विचार करेंगे। ऐसा करने से उनमें अपने पर छाई हुई स्थितियों के स्वभाव को समझने का अभ्यास पैदा होगा। इससे अनुभव-शक्ति में उन्नति होगी। आपने पूछा है कि आपको मेरी आकृति का विचार (ध्यान) करना चाहिए या मेरे समर्थ सद्गुरू की आकृति का। मैं इस विषय में आपके प्रति अपना अभिमत प्रकाशित करता हूँ। यदि मालिक (सद्गुरू) पूर्ण है, तो उसकी आकृति का ध्यान अभ्यासी के हृदय में अमृत उड़ेल देता है। यदि गुरु में कमी है तो शिष्य अपने गुरु की स्थिति से आगे प्रगति नहीं कर सकता। यदि गुरु ठोस है तो शिष्य चट्टान बन जाता है। इसके अतिरिक्त जिस किसी की आकृति पर शिष्यों द्वारा ध्यान किया जाता है, यदि उसे गुरु को संक्रमित होने वाली शिष्यों की जड़ता (ठोसता) आदि को हटाने की विधि मालूम न हो, तो वह स्वयं दूषित (भ्रष्ट) हो

जाता है। इस विषय में प्रवेश करने के पूर्व कृपया इन सब बातों पर समुचित विचार कर लें।

मैं गुरु नहीं वरन् मानवता का सेवक हूँ। मैं अपने श्रद्धेय समर्थ सद्गुरु (मालिक) की हिदायतों के अनुसार इसी दृष्टि से अपने साथी लोगों की सेवा करता हूँ। मैं अपने को किसी भी अन्य व्यक्ति से श्रेष्ठ नहीं समझता हूँ, क्योंकि जिस परमशक्ति को कोई खोज रहा है, वह उसकी अपनी ही आत्मा में निवास करती है। अपना हृदय और मन-मस्तिष्क प्रभु को समर्पित करके आगे और आगे बढ़ते जायें, प्रभु का सम्पूर्ण साम्राज्य आपका होकर रहेगा।

●●●

सद्गुरु की तमन्ना

(३० अप्रैल, १९८७)

मैं चाहता तो यही हूँ कि आप लोग सब मिल कर मेरी हस्ती को कामयाब बनायें। मगर यह तभी हो सकता है, जब आप लोग शानदार बनें। शानदारी से मेरा मतलब है कि आप लोग चमकें। फकीरों की शानदारी किसी खास तरह के कपड़ों से नहीं होती, बल्कि दिल की बेरंगी से होती है।

बेरंगी कैसे होती है ?

—जब सब रंग मिल जाते हैं।

पता इसका कैसे चलता है ?

—जब साम्यावस्था पैदा हो जाती है।

साम्यावस्था कैसे पैदा होती है ?

—जब इन्तहाई नम्रता पैदा हो जाती है।

इन्तहाई नम्रता कैसे पैदा हो जाती है ?

—समर्पण से।

समर्पण कैसे पैदा होता है ?

—अपने आप को मिटा देने से।

अपने आप को मिटा देने से जो चीज़ पैदा होती है, वही आला दर्जे का समर्पण कहलाता है। इसकी शुरुआत यों की जाती है कि ईश्वर को, या जो आदर्श हो, महान् समझा जाता है। यह आरम्भिक चीज़ मैं बता रहा हूँ। फिर अपने आपको उस पर छोड़ देते हैं, इस तरह पर जैसे मुर्दा नहलाने वाले के हाथ में होता है। जिधर चाहे हाथ पैर या कुल जिस्म उठाये या रखे, मुर्दा कोई रुकावट या हीला-हवाला नहीं कर सकता। श्री रामानुज के वेदान्त साहित्य में इसी तरह की एक मोटी मिसाल बिल्ली के बच्चे से दी गई है कि जिसे उसकी माँ अपने दाँतों में दबा कर एक जगह से दूसरी जगह ले जाती है। अगर

कोई अहंकार टूटने का नुस्खा मुझे से माँगे, तो उसके लिए यही नोशदारू है, और उस के यह जुज़ (अङ्क भाग) और कोई तरकीब इससे बेहतर मेरी समझ में नहीं आती।

हमहमी उसी समय मिटती है, जब किसी की बड़ाई हम अपने दिल में रख लेते हैं। इस में एक भेद भी है, और मसल भी है कि ऊँट जब पहाड़ के नीचे आता है, तो उसे अपनी छुटाई का पता चलता है। भेद क्या है ?—बहुत छोटा सा, जिसकी तरफ़ निगाह नहीं जाती। वह यह कि हमारी तबीयत दूसरे से तुलना करने लगती है, और फिर उस लिहाज़ से अपने आपको छोटा समझते हैं। गोया पहली ठेस हम अहंकार के ऊपर दे देते हैं। अगर तुलना का ख़याल दिल से उठा दिया जाये तो उन्नति का ख़याल भी दिल से उठने लगेगा। तुलना हम को यह बता देती है कि हमको कैसा बनना चाहिए।

जब बनने का ख़याल पैदा होता है, तो उसके करने की तरकीब भी ख़याल में आने लगती है। फिर उसको हासिल करने की हम कोशिश भी करते हैं। और जब हम कोशिश करना शुरू करते हैं, वैसा बनने की, तो गोया कि हम अपने आदर्श से कुछ न कुछ वाबस्ता हो जाते हैं। दिल की यह वाबस्तगी, यानी अपने आदर्श से मुहब्बत पैदा हो जाने पर हमारा ख़याल भी उस तरफ रहने लगता है, और रहते-रहते यही लगातार याद (सतत्-स्मरण) की शक्ल पैदा कर देता है। जब लगातार याद का सिलसिला कायम हो जाता है, तो उसी की गर्मी और बिजली हमारी ख़बर मालिक तक पहुँचाती है। मालिक तक ख़बर पहुँच गई, तो यह मुमकिन ही नहीं कि उसकी लहर (विद्युत धारा) आपके अन्दर कायम किये सिरे पर न पहुँचे। यह सब कितना नेचुरल है, और अगर नेचुरल तरीक़े से आगे बढ़े तो कितना आसान ! यह सब फ़ायदे की बातें अपनी समझ के मुताबिक़ मैंने आपको बता दीं। अब करना आप लोगों के हाथ में है, और मदद मालिक यानी परमात्मा की, जिसके सिरे (ध्रुव-बिन्दु) आपके अन्दर औ बाहर कायम हैं।

तरीक़ा, अपनी ख़बर उस सिरे तक भेजने, और उस की लहर इस सिरे तक लाने का यही है; और वैसे तो भाई, चिल्लाये जाओ,

आवाज़ तूती की सुनता कौन है, नक़्क़ार ख़ाने में ! ईश्वर के पास कान तो हैं नही जो वह उन चिल्लाने वालों की सुन ले; और न आँखें हैं कि आप को देख ले। उस के पास जो चीज़ें हैं, वही इन सब चीजों के लिए औज़ार हैं। और भाई, होता अन्त हमारा भी ऐसा ही है कि हम भी अपने कान फोड़ लेते हैं, और आंखे भी, ताकि हम भी उसी तरह के हो जायें। यही ईश्वर-साक्षात्कार है। कहीं आप या कोई और, इस का यह मतलब न समझ लें कि किसी औज़ार से अपने आँख-कान फोड़ने लग जायें। मेरा जो मतलब है आप समझ गये होंगे कि हमें वैसा ही बनना है, जैसा कि हमारा आला मक़सद (आदर्श गन्तव्य) है। और यह मुमकिन तब होगा जब अपने दिल की गहराई, और उस आला मक़सद के बीच मुहब्बत के फैज से लबरेज (चार्ज किये हुए) सिरों (ध्रुव-विन्दुओं) के दरमियान, लगातार याद (सतत् स्मरण) की लहर (विद्युत धारा) ख़बर-रसानी (सञ्चार-सम्पर्क) के साधन के रूप में स्थापित हो। और जब मक़सद-बरारी (लक्ष्य-प्राप्ति) नसीब होती है, तो वही हालत होती है जैसा कि शायरों (कवियों) ने बयान (वर्णन) किया है कि बिना इन्द्रियों का इस्तेमाल किये उनके सारे हुसूल (प्राप्तव्य) आपकी मुट्ठी में होते हैं, जैसा कि उस आदर्श का स्वरूप है, जहाँ कि हमें पहुँचना है। ईश्वर आपको इस की हिम्मत अता करे, और आप की मदद करे !

इस सारी साधना में, सोने के साथ सुगन्ध की सूरत पैदा हो जाये, अगर कहीं आदर्श या आला मक़सद हमारे लाला जी साहब जैसी शख़्सियत की शक्ल में खुशक़िस्मती से हाथ लग जाये। ऐसी खुशनसीबी के लिए भी भरे दिल की पुकार ही बेहतरीन ज़रिया (सर्वोत्तम साधन) हो जाती है, या फिर उस की कृपा, जो सिर्फ़ उस की मर्ज़ी पर निर्भर है, और किसी क़ानून के बन्धन में नहीं हो सकती। जहाँ तक ख़ुद करने का सवाल है, कबीर ने खूब कहा है कि 'जिन पाया तिन रोय' यानी भरे दिल की मासूम मगर बेचैन तलाश, उसकी ज़ाहिरा शक्ल ख़्वाह (चाहे) कैसी भी हो। और उस की कृपा के बारे में ठीक कहा है :

'ईं सऽआदत ब जोरे-बाजू नेस्त,
गर न बख़्शद खुदा ए-बख़्शंदा।

(यह सौभाग्य बाहु-बल द्वारा नहीं मिलता, यदि दाता परमात्मा कृपा पूर्वक प्रदान न कर दे।)

मालिक आप सब को मेरी जैसी ख़ुशनसीबी अता करे !

●●●

अध्यात्म

(बसन्त पंचमी, १९८८)

अध्यात्म को लोगों ने मज़ाक़ समझ रक्खा है। समझते हैं कि यह हिस्सा तो गुरु का है। अपने लिए तो केवल दुनियादारी के मामलों में प्रयत्नशील रहना चाहिए। समय पर ध्यान में ऊँघे और तारीफ़ करते हुए चले आये। उनके लिए रूहानियत किसी और चीज़ को हासिल करने का साधन बनकर रह गई : किसी के लिए पैसा या ख़ुशामद द्वारा ख़रीदी नौकरानी, और किसी के लिए अपने रुतबे और फटकार के ज़ोर से प्राप्त घर की लौंडी, बल्कि कहीं-कहीं पैर की जूती। यह किसी से न हुआ कि अध्यात्म को फ़ौक़ियत (वरीयता) देते, और हर काम में उसी को मुक़द्दम (मुख्य) समझते और धारों को समेट कर उसी तरफ़ कर देते। अपवाद तो, ख़ैर, अपवाद ही होते हैं।

यह हाल है, जो अवाम (जन साधारण) का है और ख़वास (सदैव विद्यमान विशिष्ट जन) को तो बस अपने को ख़ुदा या उसका बेटा या महबूब (प्यारा मित्र) समझने या बनने का वहम (भ्रम) और धुन सवार रहती है। इसका नतीजा यह होता है कि विनम्रता और मिस्कीनी सिफ़त (गरीबी का गुण) रुख़सत हो जाते हैं, जिसे रूहानियत की ए-बी-सी-डी कहना चाहिए। गोया बिस्मिल्ला (आरम्भ) ही असल लताफ़त (वास्तविकता, सूक्ष्म पवित्रता) से नाआश्ना (अपरिचित) हालत से होती है। फिर आगे बढ़ने का सवाल ही क्या !

हर चीज़ की तरह रूहानियत भी एक इल्म (विद्या) है, और मालूमात का सिलसिला (सूचनाओं या ज्ञान की श्रृंखला) जो दिल के असल लगाव का ख़्वास्तगार (आकाँक्षी) रहता है। काश कि लोग इसके दिलदादः (प्रेमी) बनते और तरकीबें पूछते, गुत्थियाँ सुलझाते और काम करते, बजाय इसके कि थोथी शेख़ी बघारते और असल

जौहर को एक तरफ छोड़कर सीपियाँ और घोंघे बटोरते रह जाते। दुनियादारी के काम इसलिए आसान मालूम होते हैं कि ज़्यादा हिस्सा वक़्त का उसमें सर्फ़ (खर्च) होता है। और इसमें भी उतना सर्फ़ होने लगे तो यह भी आसान मालूम होने लगे। रूहानियत के दर्जे पार करने के लिए कोई उतनी लगन और मेहनत भी ज़रूरी नहीं समझता जो एक मामूली इम्तहान पास करने या छोटी सी ट्रेनिंग हासिल करने या व्यापार में मुनाफ़ा पाने या मुक़दमा लड़ने की तैयारी में ज़रूरी माना जाता है। इस का कारण रूहानियत के बारे में ग़लतफ़हमी ही होना चाहिए।

लोगों को आख़िर असल रूहानियत में लुत्फ़ क्यों नहीं आता ? मुहब्बत की कमी ! हर बात की प्राप्ति के लिए और हर ख़राबी दूर करने के लिए मराकिबा (ध्यान) हो सकता है। मुहब्बत ही एक चीज़ है जो मञ्ज़िल तक पहुँचा देती है। आसान अमल (अभ्यास) यह है कि उसकी याद से किसी दम (क्षण) गाफ़िल (बेख़बर) न हों, और सब से आसान नुस्ख़ा भी यही है। साथ ही साथ ऐसे तरीक़े भी करता चले जो उसमें मददगार हों। या फिर अगर इश्क़ सादिक़ (सच्चा प्रेम) है तो वही बातें अज़ख़ुद (स्वयमेव) पैदा होने लगेंगी। ज़्यादातर वक़्त इसी में लगाया जाये, यानी ख़याल या याद में। यह वह मुजर्रब (अनुभूत) नुस्ख़ा है जो कभी ख़ता नहीं करता (निष्फल नहीं होता)। मुहब्बत का दम तो शायद ही कोई ऐसा हो जो न भरता हो, लेकिन असली मुहब्बत की मिसाल ज़माने में ज़रबिल्ला (अत्यन्त बिरली) पैदा होती है।

यूँ तो आशिक़ हर जगह हैं ख़ैल ख़ैल
आशिक़ी बदनाम है जिनके तुफ़ैल ।।

(वैसे, प्रेमी तो सभी जगह ढेरों ढेर हैं, जिनकी बदौलत प्रेम बदनाम हो रहा है।)

किसी ने भिखमंगेपन को 'इश्क़' का नाम दिया, तो किसी ने शेख़ी बघारने को। कोई और आशिक़ी को बपौती समझ बैठा। ख़ुद को मिटाकर महबूब (प्रियतम) की शख़्सियत (व्यक्तित्व) का हिस्सा बन

जाने की मिसाल सबसे बड़ी राधा-कृष्ण की है, जिसको समझना और अमल में लाना हँसी-खेल नहीं, यद्यपि इससे अधिक आसान और कुछ हो ही नहीं सकता। बस, सीक की ओट पहाड़ का मज़मून है।

एक बात अजीब बताता हूँ: राधा जी मैदाने-जंग (युद्ध-क्षेत्र) में भी कृष्ण जी के साथ थीं। निगाह नहीं थी कि उनको कोई पहचान सकता। अब भी यही बात है। मुकम्मल गुरु (सर्व समर्थ सद्गुरु) का यही करिश्मा (आश्चर्यजनक उपलब्धि) है : दो होते हुए भी एक मालूम होता है। राधा जी ने किसी समय कृष्ण जी का साथ नहीं छोड़ा; और न वह कभी उन के ख्याल से ग़ाफ़िल रहे। दोनों एक हो रहे थे, यानी हर जगह कृष्ण जी राधा जी के साथ थे, और राधा जी कृष्ण जी के साथ रहीं।

'ब हर कारे कि बाशी, बा खुदा बाश।'

(जिस कार्य में भी रहना हो, परमात्मा के साथ रहो।)

यह एक रूहानी मञ्ज़िल (आध्यात्मिक गन्तव्य) है, जिसके देखने के लिए आँखें चाहिए और समझने के लिए दिमाग़ ! जिस ने किताबी शक्लें दिमाग़ में भर लीं, वह इस रम्ज़ (रहस्य) को नहीं समझ सकता। यह और चीजं है और वह और। ज्ञानी पंडित कहलाने लगे, और पंडित ज्ञानी : असल तत्त्व दोनों की ही पहुँच से दूर रहा। सच कहा है कि जब तक इन्सान में खुदी (अहन्ता) है, वह खुदा से दूर है। रूहानियत इस रास्ते की पहली मंज़िल है, और विनम्रता (लताफत) इस सफ़र की शुरुआत।

'दिले मन बाग़बाने-इश्को-हैरानी गुलिस्तानश।
अजल दरवाज़-ए-बाग़ो अबद हद्दे-ख़याबानश।।'

(मेरा हृदय उस प्रियतम के प्रेम और हत-बुद्धि-आश्चर्य रूप उद्यान का माली है। सृष्टि का आदि उद्यान का प्रवेश-द्वार है, और विश्व की समाप्ति उस प्रियतम परमात्मा के वीरान मरुस्थल-उजड़े प्रदेश-की चरम सीमा।)

दिवंगत श्रेष्ठजन से अन्तःसंसर्ग

(३० अप्रैल, १९८८)

आप ने यह सवाल अच्छा उठाया कि बुजुर्गाने सल्फ़ (बीते समय के श्रेष्ठजन) से आला तालीम (श्रेष्ठ प्रशिक्षण) और अहकाम (आज्ञाएं) वग़ैरः (आदि) बतौर मरासिलात हासिल करने का मेऽआर (मापदण्ड) और सबूत (प्रमाण) और तरीक़ा (विधि) क्या है, जब कि वह लोग खाकी बन्दिशों (भौतिक बन्धनों) से आज़ाद (मुक्त) हो चुके हैं। इल्म-बातिन (अन्तर्जगत विषयक विद्या) के यह नुक्ते (सूक्ष्म बिन्दु) हर कस-व-नाकस (जिस-तिस) का हिस्सा (भाग) नहीं। अव्वल तो (प्रथमतः) कोई सही तौर पर (समुचित रूप से) इसको हासिल करने की तरफ़ राग़िब (उन्मुख) ही क्यों होने लगा, जब तक उसकी कोई अपनी ग़रज़ (स्वार्थ) इससे वाबस्ता (सम्बद्ध) न हो; और दूसरी बात यह कि सवाल करने वाले की ग़रज़ पूरी करने में बतलाने वाले को भी रग़बत (अभिरुचि) क्यों होगी, जब तक कि उसकी अपनी ग़रज़ और उसका असल मुद्दआ (वास्तविक उद्देश्य) इस से वाबस्ता न हो। सीधी बात है कि सिर्फ़ (केवल) तुम्हीं ने यह सवाल पूछा क्योंकि तुम्हें इस इल्म (विद्या) से अपनी ग़रज़ वाबस्ता महसूस (अनुभव) हुई, और मुझे यह बात तुम्हें बताने की रग़बत का एहसास है क्योंकि इससे मेरी ग़रज़ और मेरा असल मुद्दआ वाबस्ता है, जिस का राज़ (रहस्य) जाने कब किस तरह अयाँ (प्रकट) हो। दोनों तरफ की ग़रज़ में हम-आहंगी (समरसता) ख़ास चीज़ है। लोगों के पास उनके लखोंखा (लाखों) अग़राज़ (स्वार्थ) हैं : इल्म-बातिन के बारीक़ नुकात (सूक्ष्म बिन्दुओं) को समझने की फ़ुरसत किसे है; और उन तमाम अग़राज की तकमील (सम्पूर्ति) से मुझे क्या ग़रज़ : मुरौव्वत की बात अलग है। मेरा असल

मुद्दआ तो अपने हादिये-दो-जहान (दोनों संसार के ऋजु पथ-प्रदर्शक) व किब्ल-ए–कौनैन (इहलोक और परलोक में परम पूज्य) लाला जी साहब के हुक्म की बर-आरी (आज्ञा का प्रतिफलन) है, कि रूहानियत का इल्म (अध्यात्म विद्या) उसकी बेलौस (नितान्त शुद्ध) असली सूरत में जुम्ला बनी नौऽये इनसान (समस्त मानव सन्तति) की बिला तफ़रीक़े मज़हब व मिल्लत (धर्म और सम्प्रदाय के भेदभाव से रहित) वग़ैरह मुफ्त (बिना मूल्य) फराहम (उपलब्ध) किया जाये, बशर्ते कि (इस शर्त के साथ) इस इल्म को हासिल करने की असली तड़प (तीव्र आकाँक्षा) हो।

बस यही नुस्ख़ा (प्रतिपादन) बुजुर्गाने-सल्फ़ से मुरासिलात हासिल होने का मेऽआर (पैमाना, मान दण्ड) है। लोगों की लाखों अग़राज़ की तकमील के लिए उनकी ख़ुद की हज़ारहा कोशिश (सहस्त्रों प्रयत्न) मौजूद रहती हैं, जिनमें उनके अपने दिल व दिमाग़ की जिद्दत (मन-मस्तिष्क की प्रतिभा) का फ़राहम (उपलब्ध) किया हुआ इम्ला (श्रुत-लेख) भी शामिल (सम्मिलित) हो सकता है। ऐसी अग़राज़ से बुजुर्गाने-सल्फ की ग़रज़ और उनके असल मुद्दआ की हम-आहंगी का भला क्या रिश्ता (सम्बन्ध) हो सकता है ? हक़ीक़त (यथार्थ परम सत्य) निहायत पुर-हसद महबूब (नितान्त ईष्यालु प्रियतमा) है : जिसको मुन्तख़ब (वरण) व क़बूल (स्वीकार) करती है, उसके दिल (हृदय) के लगाव को जब तक हर तरफ से फिरा कर सिर्फ अपनी तरफ रुजू (उन्मुख, उद्दिष्ट) नहीं कर लेती, तब तक अपने को वाज़ेह (सुस्पष्ट) नहीं करती। और बुजुर्गाने-सल्फ़ हक़ीक़त की वजाहत (यथार्थ परम सत्य के सुस्पष्टीकरण) के सिलसिले (क्रम) की कड़ी होते हैं : लिहाज़ा (अतः) उनका भी वही दस्तूर-उल-अमल (कार्य प्रणाली) होना लाज़िम (निश्चित, अनिवार्य) है। हस्ब ज़रूरत (आवश्यकतानुसार) अक्सर (बहुधा) चुनाव (वरण) उनको ख़ुद (स्वयं) भी करना पड़ता है। बल्कि अपनी ग़रज़ और अपने असल मुद्दआ की तक़मील के लिए मुनासिब पात्र की तलाश करके उसे तैयार करना पड़ता है। बहरहाल इस अमर (विषय) में दोनों तरफ की ग़रज़ में हम आहंगी ख़ास चीज़ (मुख्य वस्तु) है।

हक़ीक़त की ग़रज़ और उसके साथ किसी की ग़रज़ की हम आहंगी का सबूत (प्रमाण) उसकी जुम्ला अग़राज़ (समस्त स्वार्थ-परायण अभिरुचियों) की तरदीद व तन्सीख़ (नष्ट एवं समाप्त होना) कहा जा सकता है। जिस्म (शरीर) रहते हुए दुनियावी अग़राज़ (सांसारिक स्वार्थ) का क़तई तौर पर (सम्पूर्णतः) ख़त्म (समाप्त) हो जाना मुमकिन (सम्भव) नहीं, लेकिन वह सब एक ऐसी ग़रज़ से मुन्सलिक (सम्बद्ध) हो जाते हैं, जो बादि-उल-नज़र में (बाह्य दृष्टि से) ग़रज़ होते हुए भी खुदगर्ज़ी (स्वार्थपरता) से मुस्तसना (अलग किया हुआ) होने की वजह से ग़रज़ नहीं रहती। इसकी पहचान यही हो सकती है कि किसी बात के हस्ब ख़्वाहिश (इच्छानुसार) पूरा होने या न होने की सूरत (स्थिति) में दिल पर वह असर (प्रभाव) पैदा नहीं होगा, जो आमतौर पर महसूस होता है। बुज़ुर्गाने-सल्फ़ से मरासिलात हासिल होने का मतलब (अर्थ) कुदरते-कामिला (सर्वशक्ति सम्पन्न प्रकृति) के काम में बतौर ज़रिया (साधन के रूप में) हिस्सेदारी (भाग लेने) के लिए मुन्तख़िब (वरण) किया जाना होता है। इस में ओहदादारी (पद-प्रतिष्ठा) की बनिस्बत (अपेक्षा) ज़िम्मेदारी (उत्तरदायित्व) ज़्यादा होती है; और ग़ल्ती की सज़ा सख़्त होने का ख़तरा बहुत रहता है। यह इस तरह कह सकते हैं कि अगर कोई औज़ार (उपकरण) वह काम अञ्जाम नहीं देता (पूरा नहीं करता) , जो उसके सुपुर्द हो, तो पहले उसे ठोक-पीट कर काम लायक़ बनाने की कोशिश की जायेगी; और फिर भी उसके राहे-रास्त (सीधे मार्ग) पर न आने की सूरत (स्थिति) में उस का फेंक दिया जाना या तोड़ कर किसी और तरह इस्तेमाल किया जाना लाज़िम (आवश्यक) है। लोगों को तो हर बात दाल-भात नज़र आती है। क़िब्ला लाला जी साहब ने जब मुझ से मरासिला क़ायम किया तो आगाह (सचेत) कर दिया कि और सब की हज़ार ख़ताएँ मुआफ़ होंगी, लेकिन तुम्हारी एक भी नहीं। और यह उनकी लाज़वाल (अविनश्वर) बेपायाँ (अगाध) मुहब्बत थी कि वह हर बात कदम-ब-कदम (पग-पग पर) सम्हालते रहे। और यहाँ लोगों का यह हाल है कि लाला जी साहब से मरासिलात का दम भरते हैं। हिर्स

(लालच) व हवस (वासना) के बन्दों (गुलामों) पर रहम (दया) के लिए उन (लाला जी साहब) की बारगाह (कचेहरी) में दस्त-ब-दुआ (कर-बद्ध प्रार्थी) हूँ।

तरीक़ा (विधि-विधान) एक ही हो सकता है—पूरी तरह उस का हो जाना और उसके ज़रिये (द्वारा) कुबूल कर लिया जाना। इन में कौन पहले और कौन बाद ? यह सवाल बेहद पुरपेच (मुश्किल, उलझा हुआ) है। पूरी तरह उसका हो जाना बिल-आखिर (अन्ततोगत्वा) उसके ज़रिए (द्वारा) खींच कर अपना लिए जाने पर ही मुमकिन हो सकता है। मगर वह किसको और क्यों खींच कर अपनाने की तरफ़ राग़िब (इच्छुक) होगा ? ज़ाहिर है कि इसके लिए कशिश (आकर्षण) उसके महबूब (प्रेम पात्र) में लाज़िम शै (अनिवार्य वस्तु) है, उसकी शक्ल (रूप) ख़्वाह (चाहे) कैसी ही सही। मासूम (निर्दोष) बेसहारा निर्बल बच्चों को परवरिश (पालन पोषण) के लिए उठाने की तकलीफ़ कोई बख़ुशी (प्रसन्नतापूर्वक) क्यों और कब गवारा करता है ? जब ख़ुद की ग़रज़ इसमें शामिल होती है: बच्चा अपना हो या कम से कम अपने जिन्स (प्रकार, प्रजाति) का हो, और फिर उठाने वाले को उसकी ज़रूरत हो, कितनी ही दूरयाव (दूरस्थित) क्यों न सही ! फिर भी हो सकता है कि पुलिस या यतीमख़ाना (अनाथालय) के हवाले कर के अपने फ़र्ज़ (कर्त्तव्य) से सुबुकदोशी (मुक्ति) और वाहवाही पर इक्तिफ़ा (संतोष) हो कर रह जाये, जिस हालत में कशिश (आकर्षण) और मक़बूलियत (स्वीकरण) की शर्तें पूरी नहीं हो पातीं; लिहाज़ा (अतएव) मरासिलात क़ायम (स्थापित) होने की गुञ्जाइश (सम्भावना) नहीं हो सकती। लिहाज़ा कुबूल करने की भी एक ग़रज़ और बेक़रारी (उत्कण्ठा) होती है। और इस तरह की कशिश जिस में मौजूद हो वह पूरी तरह उसका हो जाने की ख़ासियत-बरदारी (विशिष्टता सम्पन्न) कर सकता है। सच कहा है कि बन्दे (जन, भक्त) की तलाश में ख़ुदा (भगवान) की बेचैनी बस ख़ुदा ही जानता है। इस पाये (स्तर) की बन्दगी (भक्ति, गुलामी) की ख़ासियत (विशिष्टता) जिसमें हो, वही इस ख़ुशनसीबी (सौभाग्य) का हक़दार (अधिकारी) हो सकता है। सही

माऽनों में (अर्थ में) यह हक़दारी (अधिकार) भी कोई हुसूल (अर्जन) नहीं बल्कि अतीया (दान-सम्पति) होती है। कम-अज-कम खुशनसीब बन्दा को ऐसा ही लगता है। यही इस तरीक़े का कुल राज़े हक़ीक़ी (सम्पूर्ण वास्तविक रहस्य) है, और इतनी ही इस की कुल हक़ीक़त !

पस (अतः) इस अमर (विषय) में क़िस्सा-कोताह (सारांश) मुख़्तसर (संक्षेपतः) यह है कि मरासिला क़ायम करने की ज़रूरत के तहत (अधीन) वह चीज़ पैदा होती है। ज़रूरत मरासिला क़ायम करने वाले की होती है, यानी जो इसे क़ायम करता है। और जिससे कायम होता है उसमें उस चीज़ का होना लाज़िम महज़ (नितान्त आवश्यक) है जो इस ज़रूरत को पूरी करने के लिए जरूरी हो। यही अल्फ़ाज़ (शब्दों) की तोड़-मरोड़ इसकी वज़ाहत (स्पष्टीकरण) की कोशिश कही जा सकती है; बाक़ी ख़ामोशी (मौन) ही इसका बेहतरीन जवाब (श्रेष्ठतम उत्तर) है, और इस पूरे मज़मून (विषय) का इख़्तसार (सार-संक्षेप या लुब्बेलुबाब) इबारत (भाषीय विवरण) और अल्फ़ाज़ (शब्दों) का इस्तेमाल (प्रयोग) हस्ब ज़रूरत (आवश्यकतानुसार) किया ज़रूर जाता है, लेकिन समझना और समझाना इस का मोहताज (मुखापेक्षी, निर्भर) नहीं। फिलहाल (इस समय) इतना ही इस पैराए (संदर्भ) में काफ़ी (पर्याप्त) समझो; और अगर कुछ बाक़ी (शेष) है, तो उसके लिए इन्तज़ार (प्रतीक्षा) ?

●●●

गुरुआई का पद

(बसन्त पञ्चमी, १९८६)

स्थितियाँ ऐसा रूप ले रही हैं कि मैं समझता हूँ कि लोग पुराने तरह के कनफुक्का गुरु की हैसियत लिए बैठे हैं। आक़िबत (अन्त को) और भी बिगाड़ लिया और लोगों को धोखा दिया। इस गुनाह (अपराध) की कोई तलाफ़ी (क्षतिपूर्ति) नहीं, कोई कफ़ारा (प्रायश्चित) नहीं। ईमान लेने वाले (धर्म बिगाड़ने वाले) की सज़ा होती है और ज़रूर होती है। इससे ज़्यादा गुनाह और क्या हो सकता है कि अपनी हैसियत समझते हुए दूसरों को गर्वीदा (प्रभावित या संपृक्त) करें और ऐसा साबित करें जैसे कि इस युग के सद्गुरु बस यही हैं। अगर यही बातें क़ायम रहीं, तो सोचो तो सही कितना नुक़सान दूसरों का कर रहे हैं। जो बेचारे ब्रह्म-विद्या सीखने के लिए आ रहे हैं और फ़ायदा क्या हो रहा है ? यह वही बतलाए–

नाम किसका बदनाम हो रहा है
–मेरा !
काम किसका हो रहा है ?
–उनका !

मैं तो अब इस नतीजे पर आया हूँ कि जब तक बेख़्वाहिश (इच्छारहित) और लातमा (लोभहीन) न हो जाय या क़रीब-क़रीब ऐसा हो जाय, वह भी नहीं की स्थिति में, तब तक तालीम का अख़्त्यार (प्रशिक्षण का अधिकार) न देना चाहिए। घटनाएँ कुछ भी करा लें यह दूसरी बात है या जमाना ऐसा करने पर मज़बूर कर दे और सवाल है। एक आदमी बहुत कुछ कर सकता है। उसके लिए इतना काम ही नहीं। वह तो प्रशिक्षण को ऐसा दबोचकर बैठ गए गोया सब कुछ मिल गया। पीर भी बन गये और गुरु का नाम भी ज़िन्दा कर दिया

और अपने आप भी फ़ायदे में रहे। इससे बढ़कर क्या बात कि सब अपने ही काम बने और यह उनके लिए काफ़ी था। अपनी ताज़ीम (प्रतिष्ठा) तो होने ही लगी, गुरुआई भी चलने लगी, क़दर (सम्मान) फैलने लगी। लोग वाह-वाह करने लगे। जलसा को देखकर जी खुश होने लगा, पब्लिक आने लगी। और भला उनको क्या चाहिए था ? आये और खूब काम किया और बाद के लिए भी ऐसा वबा (संक्रामक रोग) फैला गये कि अपना नाम क़ायम कर गये।

कितनी अच्छी बात है, दुनियावी तालीम (सांसारिक शिक्षा) के लिये हज़ारों रुपये खर्च किये जाते हैं ! गिरोहबन्दी (गुटबन्दी) के लिए कितना खूँरेजी (रक्तपात) होती है ! ठकुरायत क़ायम रखने के लिये कितना जुल्म किया जाता है ! अपनी बड़ाई के लिये कितना खर्च होता है ! अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिये कितनी बातें ऐसी की जाती हैं, जो अनुचित हैं। कितनी दावतें दी जाती हैं ! कितनों के पैर धोये जाते हैं ! अब सोचो तो सही कितना परिश्रम अपनी इज़्ज़त, अपनी आबरू बढ़ाने के लिये किया जाता है ! कितना वक़्त लगता है और कितना रुपया ! यह कितनी मुश्किल बात है ! इस दौड़-धूप में बड़ा हिस्सा ज़िन्दगी का गुज़र जाता है और फिर भी अक्सर उतनी क़ामयाबी नहीं होती जितने का ख़्याल था और उसमें भी तरह-तरह के ख़तरे, तरह-तरह के नुक़सान, तरह-तरह की मुसीबतें, इससे तो यही बेहतर है कि गुरुआई ऐसे तरीके से शुरू कर दें जैसा कि आजकल लोग करते हैं। किसी ने कान फूँक दिया, किसी ने हाथ पर हाथ मारा। इससे ताल्लुक़ नहीं कि उसका आध्यात्मिक सम्बन्ध भी दुरुस्त हुआ या अपने आप में ऐसी क़ाबलियत है या नहीं। मतलब से मतलब, गुरुआई से ग़रज़, हलवे-माँडे से काम, अपनी ज़रूरियात (आवश्यकताओं) की फिक्र। यह तो बहुत सहल में ही गुरु बन गये और हर नुक़सान से बच भी गये। भाई, यह तो बड़ा अच्छा मामला है और मैं समझता हूँ यह सबको करना चाहिए। मगर क्या आक़िबत बख़्श दी गई (परमार्थ प्राप्त हो गया) ? हर्गिज़ नहीं। गहरी खाई तैयार है। सबसे पहले ऐसा व्यक्ति उसमें जाने वाला होगा। ख़ुदा की रहमत कभी उस पर नाज़िल न होगी। (वह ईश्वर की कृपा का पात्र न होगा)। क्या ईश्वर के नाम पर ऐसे लोगों ने धोखा नहीं दिया ?

क्या यह ऐसा धोखा है जो माफ़ किया जा सकता है ? हर्गिज़ नहीं। आख़िबत कैसी, जब उसकी शुरुआत ही खराब; रूहानियत कैसी जबकि आरम्भ में ही अपने स्वार्थों के लिए लोभ का आँचल पकड़ लिया ? क्या यह लोग सच्चे अर्थों में कह सकते हैं कि उन्होंने मेरा (समर्थ सद्गुरु) आसरा लिया ! अगर ऐसा होता तो यह बातें कभी न होती। क्या यह शराफ़त नहीं है कि अपनी कमज़ोरियों को किसी ऐसे व्यक्ति के सामने रख दें जिसको उन्हें दूर करने की योग्यता प्राप्त हो। ऐसा क्यों नहीं करते ? शर्म-हया की वजह से कि ऐसा न हो कि हमारा दोष ऐसे व्यक्ति की समझ में आ जाये कि उनकी भद्द हो जाये। शागिर्दों (शिष्यों) का दिमाग़ तो पहले ही से बन्द कर रखा है, कि गुरु से आगे कुछ सोचें ही नहीं; और जब सोचेंगे नहीं, तो समझ में क्यों आने लगा। क्या अच्छा हाल है, ख़ुदा बचाये !

अहा-हा ! क्या अच्छा मज़मून है। हमको तो इसकी नक़ल करना चाहिए। इससे दुनिया तो मिलती ही है, आख़िरत कौन देखता है ? वह तो ख़ुदा ही को मालूम होती है। एक चीज़ तो संभल ही जायेगी, दूसरी से हमें ग़रज़ क्या ? उस के तो मालिक गुरु महाराज हैं; वह सब ठीक कर लेंगे। भाइयो ! यह बात बहुत अच्छी कही है। अगर मैं इस क़ाबिल होता, तो भला गुरु क्यों करता ! कुछ उन की भी तो ज़िम्मेदारी है। यह सब हम ही कर लेंगे ! आख़िरत के ठेकेदार तो वह हैं; हमें उससे मतलब क्या ? वह करें या न करें, यह उनका कर्म है। बहरहाल वह करेंगे ही यह तो मुझे विश्वास है, क्योंकि इसके ज़िम्मेदार तो वह हैं। अगर न किया तो क्या उन से जबाब नहीं लिया जायेगा ? ज़रूर ! वह भी उस से बच नहीं सकते। ईश्वर तो दोनों का है; फिर कैसे हो सकता है कि इन्साफ़ न करे और एक दूसरे से उस के कर्म का जवाब न ले। और अगर यह नहीं करता, तो मुझे भई, उस के अस्तित्व में संदेह हो गया। क्या ऐसी उम्मीद है कि वह अपना कर्त्तव्य पूरा न करे। अरे, यह तो रोज़ की बातें हैं। एक बार मैं कचहरी से आ रहा था; दो गधे लडते हुए पीछे से आये। मैं चूंकि ध्यान की स्थिति में था, अल्लाह मियाँ को यह फ़िक्र पैदा हुई कि ऐसा न हो कि यह दब जाये, और फिर कोई बन्दगी (सेवकाई) करने वाला

न रहे फिर क्या था; फरिश्ते को हुक्म दिया गया कि तुरन्त इन गधों को अलग कर दो : ऐसा न हो कि यह शख्स जख्मी हो जाये। फौरन आज्ञा का पालन किया गया; और गधों को अलग कर दिया गया। एक मिसाल तो मैं यह ही पेश करता हूँ; और जाने कितनी गुज़री होंगी : कहाँ तक कहूँ आख़िर को यह यक़ीन हो गया कि ख़ुदा मदद करता है; और ज़ाहिर है, कि जब गधों को अलग करने में उसने मदद की तो क्या एक इन्सान की मदद नहीं करेगा ? और कैसा इन्सान, जो गुरु के हाथ पर तबली ठोक चुका है, और हाथ पर हाथ रख चुका है ! क्या यह बातें पाए सबूत (प्रमाण के दर्जे) पर नहीं पहुँचतीं; कि हाथ पकड़ना कोई मज़ाक है : उम्र भर निभाना होता है। और गुरु जो हाथ पकड़े, उसको तो उम्र भर के बाद भी निभाना होगा ! इसलिए कि वह तो गुरु हैं, भव सागर पार उतारने वाले हैं। कोई मज़ाक थोड़े ही है, जो इससे निकल जायें। वह तो हमारे हो चुके, और इसकी क़ीमत भी पा चुके; इसलिए कि दीक्षा ग्रहण करते समय मैंने नज़र भी तो दी थी ! अब भला पूछो तो सही कि गुरु ने टका भी पाया, सुपुर्दगी (समर्पण) भी ली, और हाथ भी पकड़ा : फिर कैसे ख़्याल पैदा न हो कि 'हमारी वह मदद नहीं करेंगे ?' हमें अब क्या चाहिए ? इससे ज़्यादा सस्ता गुरु भला किसी को मिल सकता है ? हर्गिज़ नहीं। अब क्या है : भाई, इस क़ाबिल बनो कि यह तरीक़ा अपना सको, जो मैंने अपने गुरु के साथ किया था। इससे दुनिया और आख़िरत (संसार और परमार्थ) दोनों संभल जाते हैं; और करने को तो कुछ बाकी ही नहीं रह जाता। इसलिए कि गुरु करे भी और फिर भी कुछ करने को रह जाये तो फिर भला ऐसे योग्य गुरु को करने से क्या फ़ायदा ? हम जिस से चाहते गुरु-दीक्षा ले लेते। ज़्यादा से ज़्यादा एक जोड़ा धोती का ख़र्च और बढ़ जाता। इसकी भी फ़िक्र हो जाती। हाँ, इसमें एक बात ज़रूर थी कि अगर वह रोज़ हमारे यहाँ धरे रहते तो अवश्य कुछ नुक़सान था। मगर जब हमें यह मालूम हो जाता है कि यह ऐसे गुरु हैं, तो हम उसी को क्यों नहीं करते जिसके ३६५ चेले होते और हर रोज़ एक के यहाँ जा सकता। अब तो भई यह सब भार उसी के ज़िम्मे है; इसलिए कि मैंने तो अपनी स्थिति

स्पष्ट कर दी; और वजह भी बता दी कि मैंने उनको इस लिए गुरु किया। वर्ना क्या गुरुओं की कमी है ? जिसे चाहें अपना गुरु बना लें। अगर आक़िबत बख़्शाने (परलोक सुधारने या परमार्थ सिद्धि) का ख़्याल न होता तो यह ही गुरु रह गये थे ? और जब ऐसा हो गया तो कोई वज़ह नहीं कि आक़िबत (परमार्थ) मेरे हिस्से में न आ गई हो। और जब ऐसा है तो कोई वज़ह मालूम नहीं होती कि मैं दुनिया में नाम क्यों न पैदा करूँ ! क्योंकि जिसकी आख़िरत (परलोक) रिज़र्व हो चुकी हो, फिर उसे क्या खटका ? अरे, खटका तो उसे होना चाहिए जिसके गुरु में यह ताक़त न हो; और कहा तो ऐसा है कि 'बिना भक्ति तारो, तब तारिबो तिहारो है।' मैं तो उनसे मोहब्बत भी करता हूँ। ज़रा, कोई उन के लिए अलिफ से बे (कोई अपशब्द) कहकर तो देखे, फ़ौरन लट्ठ खोपड़ी पर होता है। भला, इससे ज्यादा मोहब्बत की क्या मिसाल हो सकती है कि अपशब्द सुनते ही लट्ठ खोपड़ी पर हो। मैं समझता हूँ कि गुरु के लिए भी इससे अच्छा मोहब्बत का और नमूना नहीं मिल सकता।

चाहिए क्या था, कि अपने आप को इतना निसार (न्यौछावर) कर देते कि पता भी न रहता। अपनी ख़बर ख़ुद को न रहती। यह जान-निसारी थी और वह मोहब्बत। हुआ क्या कि ऐसी जान-निसारी अख़्त्यार की (अपनाई) कि जान-निसार ही होकर रह गये और ख़ूब हुए, कि होते ही चले गये। नतीजा क्या निकला ? तुम ही बताओ तो सही कि जान ही जान रह गई और निसार ग़ायब ! मतलब क्या ? ख़ुदी रह गई और ख़ुद ग़ायब ! और ख़ुद ही ग़ायब नहीं, सब कुछ ग़ायब कर दिया। सीखा-सिखाया भी गया; और आने की ज़रूरत ही क्या थी, जबकि जो था, उसको भी न रख सके। फिर क्या था ? और कुछ नहीं, सिवा दुनियादारी।

अब ख़ुद फरामोशी का हाल सुनो। माऽनी तो मालूम होंगे यानी स्वयं को भूल जाना। बस, गुरु ही याद रहना। इसको यारों ने ख़ूब समझाया और वाक़ई यह मसला उन्होंने ही हल किया और करके दिखा दिया। हर काम जो करो गुरु से निस्बत दो (सम्बद्ध करो)। किया और निस्बत दी। हुआ क्या ?—लगे वाऽज़ कहने (भाषण देने),

और लगे गुरु के नाम पर काम करने। कहो क्या यह मसला हल नहीं हो गया ? अब जो काम करते हैं, गुरु का समझ लेते हैं। मगर रुपया आता है तो अपना समझ लेते हैं क्योंकि उससे (रुपये से) उनको (गुरु को) वास्ता ही क्या ? पहली ही मुलाक़ात में जो दे दिया, उन्हें उससे ज़्यादा ज़रूरत ही नहीं ! ख़ैर कुछ हुआ तो और सब कुछ हुआ। मेरा काम भी हुआ और तुम्हारा काम भी हुआ; और ख़ुद फ़रामोशी का मसला भी निभा दिया गया। अब क्या रहा ? बताइये, मुझमें रूहानियत में क्या कमी है ? कौन सी ऐसी बात है जो गुरु महाराज के नाम पर नहीं करता, और नहीं की ?' ऐसे लोग तुम्हें पसन्द नहीं ! हमारी समझ से तो बड़े अच्छे हैं। दुनिया यही बातें तो देखती है। और इसी से रूहानियत का अन्दाज़ा लगाती है। फिर सूखी हड्डियों को भला कोई क्यों पूछने लगा, जहाँ कुछ है नहीं ! नहीं है और सब कुछ है, यह ही एक चीज है। क्या अच्छा होता ऐसा करते हुये चलते। मंज़िल आसान होती और मक़सद जिन्दगी का हल हो जाता, रूहानियत का मज़ा आ चुकता, मुश्किलें हल हो चुकी होती, विसाल (मिलन) हो गया होता, तड़प का ख़ात्मा हो चुकता, इश्क़ की मंज़िल तय हो चुकी होती, काम बन चुका होता, ग़र्ज़े कि क्या-क्या कहूँ, सब कुछ हो गया होता ! कौन मर्दे-मैदान है जो इस वादिए पुरअमन (शान्ति घाटी) और ख़ुश्क घाटी में क़दम रखे और बेलुत्फ़ (आनन्द रहित) होकर दोनों हाथों से आनन्द उठाये ! ऐसा मर्द आली हिम्मत (श्रेष्ठ साहस सम्पन्न मानव) कोई एक होता है; और उसी के तुफ़ैल (कारण) सबका बेड़ा पार लग जाता है।

●●●

मूर्ति-पूजा

(३० अप्रैल, १९८९)

अक्सर लोग तसवीर पूजते हैं, और अक्सर दूसरे लोग इसकी मुख़ालिफ़त करते हैं। पूजने वालों की भी बहुत क़िस्में हैं। कैलेन्डर का साल भर इस्तेमाल करने के बाद या पहले भी, उसकी तसवीर फ़्रेम लगा कर अलमारी के कोने में सजा दी गई; और धूप दीप वग़ैरह किया जाने लगा। देवता या महापुरुष की फ़र्ज़ी (काल्पनिक) ख़ूबसूरती की जगह अपने बुज़ुर्ग का असली फ़ोटो, इन्तक़ाल (मृत्यु) के बाद या कभी-कभी ज़िन्दगी के दौरान भी परस्तिश (पूजा) का दर्जा हासिल कर लेता है। यह बात अलग है कि जिसका फ़ोटो आदि पूजा जाता है, उस बेचारे को असली ज़िन्दगी में अपने पुजारियों से क्या सलूक नसीब होता है। गुज़िश्ता (बीती हुई) या मौजूदा (वर्तमान) ऐसी हस्तियों के भी शैदाई (प्रेमी) काफ़ी तादाद (संख्या) में मिलेंगे जिन का उन से सीधा तअर्रुफ (परिचय) कभी नहीं हुआ; लेकिन बतौर आइडियल वह अपने पुजारी की अक़ीदत (श्रद्धा) के मुस्तहक़ (अधिकारी) हैं।

अब पूजा के भी कई मदारिज (श्रेणियाँ) हैं: आराइश (सजावट), नुमायश (प्रदर्शन), फ़र्ज़ अदायगी (कर्त्तव्य पालन), जज़्ब-ए-तौक़ीर (श्रद्धा का उत्साह), इज़्हारे भक्ती (भक्ति की अभिव्यक्ति) या डर से बचाव और तमाअ (लालच) व तमन्ना (तीव्र आकाँक्षा) की बरआरी (सफलता) की उम्मीद। आदत के तहत (अन्तर्गत) महज़ (केवल) मत्था घिसाई या खुदनुमाई (आत्म-प्रदर्शन) भी हो सकती है। असल मक़सद (वास्तविक लक्ष्य) की तलाश, जो ब-हर-सूरत (हर तरह से) कमयाब (कम पाई जाने वाली वस्तु) है, कभी-कभी तसवीर की परस्तिश की भी तह में मौजूद हो सकती है।

तसवीर और बुत (मूर्ति) की पूजा के मुख़ालिफ़ान (विरोधी) आमतौर पर असल की जगह नक़ल की पूजा को क़ायम (प्रतिष्ठित) किये जाने की मुख़ालिफ़त करते हैं, जो सही है। नक़ल की पूजा से असल तक रसाई (पहुँचना) सदियों में कोई खुशनसीब (भाग्यशाली) हासिल करता है; लेकिन इसका दम हर लकीर का फ़क़ीर और हिर्स (लालच) व हवस (वासना) का बन्दा (गुलाम) हमेशा भरता है, बल्कि इसी का दावा बतौर दलील पेश करता है। इस तरह के वहम (भ्रम) को तोड़ना एक बात है, लेकिन बुतशिकनी (मूर्ति भञ्जन) को बुत-परस्ती (मूर्ति-पूजन) बना देना दूसरी हद (सीमा) का कट्टरपन है। ख़ुदनुमाई (आत्म-प्रदर्शन) और ख़ुदी (अहंता) इसमें भी है। दिल की लोच और सादा-लौही (सरलता, सहजता) जो रूहानियत (आध्यात्मिकता) का जौहर (मूल-तत्त्व) है, और असल की तलाश और हुसूल (प्राप्ति) में सबसे ज़रूरी चीज़ है, वह दोनों तरह के मज़ाहिब (धर्मों) में मफ़कूद (ग़ायब) हो जाती है। रूहानियत को मज़हब से बालातर (श्रेष्ठ) बताने का यही राज़ (रहस्य) है। रूहानियत की सादगी और शान्ति मज़हब का प्राण है। बेजान मज़ाहिब (प्राणहीन धर्म) इन्सानियत (मनुष्यता) के अज़ाब (अभिशाप) हैं।

दरअसल (वास्तव में) तसवीर या मूर्ति केवल तसवीर या मूर्ति है। उस से वह काम नहीं लिया जा सकता जो कि उससे, जिसकी कि वह तसवीर या मूर्ति है। जो जिस काम के लिए है, उसे उसी काम के लिए इस्तेमाल किया जाना मुनासिब (उचित) है, और उससे बईद (अलग, दूर) नामुनासिब (अनुचित) बल्कि जिहालत (मूर्खता) की अलामत (निशानी, पहचान)। किताब में जो कुछ लिखा गया है उसको पढ़ना और समझना, उस पर अमल (काम) करना, उस पर बहस मुबाहसा (तर्क-वितर्क, खोज-बीन) करना, और अगर उसमें कोई कमी है तो उसको दुरुस्त करने (सुधारने) में रग़बत (अभिरुचि) रखना मुनासिब तरीक़ा है : तहज़ीबी तरक़्क़ी (सांस्कृतिक प्रगति) का यही ज़रिया (साधन) है। इस के बरखिलाफ़ (विरुद्ध), सिर्फ़ किताब की आरती करते रहना, या मौक़ा-बे-मौक़ा (समय-असमय) उसके हिस्सों

को चिल्लाना और दूसरों को भी ऐसा करने या बर्दाश्त (सहन) करने को मजबूर करना न सिर्फ बेसूद (लाभ-रहित, व्यर्थ) है बल्कि रूहानी ज़वाल (आध्यात्मिक पतन) का अलम-बरदार (ध्वज-वाहक) ! तसवीर किसी अज़ीज़ (प्रिय) या मुअज़्ज़िज़ (आदरणीय) शख़्सियत (व्यक्तित्व) की याद को पायदार (स्थायी) बनाती है। यही उसका मक़सद (उद्देश्य) होता है, और इसी के लिए उस का इस्तेमाल (उपयोग) सही (ठीक) और जायज़ (वैध) है। तसवीर या मूर्ति से दुआ माँगना (प्रार्थना करना), आदि, मुमकिन है (सम्भवतः), कभी असरयाब (प्रभावकारी) मालूम (प्रतीत) हो; लेकिन ऐसा आमतौर पर अपने ही दिल की मुलायमत (कोमलता) या कुव्वते इरादी (इच्छाशक्ति) की मज़बूती (दृढ़ता) वग़ैरह की वजह से होता है; न कि जिसकी तसवीर या मूर्ति है, उसकी आत्मा से सम्बन्ध क़ायम (स्थापित) हो जाने के कारण। प्राण-प्रतिष्ठा के सिद्धाँत के पसेपुश्त (पीछे) भी यह अमल (क्रिया) करने वाले की कुव्वते इरादी के ज़रिये (द्वारा) ही क़ायम किया गया असर (प्रभाव), राज़ (रहस्य) की ख़ास चीज़ (मुख्य वस्तु) होता है। वैसे क़ुदरत (प्रकृति) और ख़ुदा (ईश्वर) की ताक़त (शक्ति) हर जगह और हर चीज़ में मौजूद (विद्यमान) है। उसका इस्तेमाल करने के लिए पत्थर, पेड़, चित्र आदि के बजाय अपने दिल की रोशनी (ज्योति) को काम में लाना हर तरह मौज़ूँ और मुनासिब होना लाज़िम (अनिवार्य) है। काम जब भी बनेगा, दिल में मौजूद ख़ुदाई रोशनी (ईश्वरीय प्रकाश) की चिनगारी से ही बनेगा। किसी बाहरी वस्तु को अहमियत (महत्त्व) देने का अर्थ अपने दिल की रोशनी को इस्तेमाल न करने के कारण कमज़ोर करना है; भला इससे रूहानी फ़ायदा (आध्यात्मिक लाभ) कैसे हो सकता है ! स्थूल से सूक्ष्म तक रसाई (पहुँच) का नारा (उद्घोष) सुनाई तो जगह-ब-जगह (स्थान-स्थान पर) पड़ता है, लेकिन इसको कर दिखाने की मिसाल मुश्किल से कहीं दिखाई देती है। इसके अलावा जब सूक्ष्म तक आख़िरकार आना ही है, तो ख़्वाह-म-ख़्वाह सफ़र को जान बूझकर लम्बा करना कहाँ की अक़्लमन्दी है ? अपने को कम अक़्ल और बारीक बात न समझ सकने वाला बताकर

आजिज़ी (विनम्रता) के विषय में अपनी श्रेष्ठता का इशारा करने का भी एक फैशन है, और इसी तरह की बातें लोगों की रूहानी तरक़्क़ी की राह में अभेद्य दीवार का काम करती रहती हैं।

तसवीर और मूर्ति के ग़लत इस्तेमाल को रोकने की ग़रज़ से तसवीर और मूर्ति बनाने पर ही पाबन्दी (प्रतिबन्ध) लगा देना ऐसा ही है जैसा कि देहाती ज़बान (भाषा) में खटमल का इलाज खाट को जला देना या उस पर सोना छोड़ देना। यह जो कुछ जैसा है या जिस काम या मक़सद (उद्देश्य) से है, उसको वैसा न देखने और उस उद्देश्य के लिए उसका इस्तेमाल न करने का दूसरा तरीक़ा है, जो एक तरह से यानी निगेटिव (निषेध परक) होने की वजह से पहले की बनिस्बत (अपेक्षा) ज़्यादा मुज़िर (अधिक हानिकारक) साबित (सिद्ध) होता है। इस तरह का इख़्तिलाजे-कल्ब (दिमाग़ी उछल-कूद, पागलपन) दिल को चट्टान की सख़्ती अता (प्रदान) करता है, जो रूहानी तवाज़ुन के हित में बुत-परस्ती (मूर्ति-पूजन) से भी अधिक मोहलिक (घातक) साबित (सिद्ध) होता है। तवाज़ुन (संतुलन) के हक़ में सख़्ती की ज़रूरत बेशक होती है, लेकिन उसी हद (सीमा) तक जहाँ तक वह दिल की लोच पर उल्टा असर न करे, और जो कुछ जैसा है उसको वैसा ही जानने और उसके वैसे ही इस्तेमाल में हारिज (बाधक) न हो। बुद्ध जी ने इसी चीज़ को अपने रूहानी अभ्यास के तरीक़े में पहला क़दम माना है; और जो भी इस रास्ते पर गामज़न होना (चलना) चाहता है, इस पर महारत (नियन्त्रण, मास्टरी) हासिल (प्राप्त) करके ही तरक़्क़ी की उम्मीद कर सकता है। इसको नाम ख़्वाह (चाहे) कुछ भी दिया जाए, जब तक हर चीज़ को जैसी और जो कुछ कि वह है वैसी ही जानने, और जो कुछ भी उस का ठीक और सही इस्तेमाल है, वैसा ही उसको इस्तेमाल करने की सलाहियत (योग्यता) पैदा नहीं होती, तब तक रूहानियत की ए, बी, सी, डी की भी तालीम (प्रशिक्षण) से बेबहरा (अपरिचित, अलाभान्वित) ही समझना चाहिए। इस पैमाने (मापदण्ड) पर, मुमकिन है, बड़े-बड़ों को भी हसरत (आकाँक्षा) न प्राप्त कर पाने की कसक ही नसीब रही हो।

अक्सर मज़ाहिब के बानी (धर्मों के संस्थापक) और उनकी खुसूसी तालीम (विशिष्ट शिक्षा) इस उसूल (सिद्धाँत) के तहत (अन्तर्गत) एतराज़ (आक्षेप) के दायरे (वृत्त) में आते दिखाई देंगे। लेकिन उन सबको रूहानियत से बेबहरा (अपरिचित) समझना वैसी ही ग़ल्ती होगी जैसी कि उन सबको रूहानी तरक़्क़ी के मामले में एक ही जैसा समझना। इस अमर (विषय) में भी जो कुछ जैसा है उसको वैसा ही जानना और समझना सही नज़रिया (दृष्टिकोण) है। मज़ाहिब के बानी रूहानियत के दायरे में क़दम रखकर ही हक़ीक़त (यथार्थता) से आश्ना (परिचित और सम्पृक्त) हुए हैं और हस्ब-तौफ़ीक़ (अपनी सफल स्थिति के अनुसार) दूसरों को हक़ीक़त से आश्ना करने के लिए कोशिश करते आये हैं। जिसके वक़्त (समय) में जिस तरह की ज़रूरत हुई है, कुदरत ने उससे वैसा ही काम लिया है। अतः अपने-अपने वक्त की मांग के पैराये (सन्दर्भ) में उनके काम की अहमियत रही है : ख्वाह वह जंग व जदल (युद्ध और संघर्ष) कुश्त व ख़ून (हत्या और रक्तपात) रहा हो या बीमारों को तन्दुरुस्त करना, अहिंसा और रहमदिली, हत्ताकि (यहाँ तक कि) कुदरत की ताक़तों (प्रकृति की शक्तियों) की परस्तिश (पूजा) वग़ैरह भी। मज़हबी तालीम (धार्मिक शिक्षा) अक्सर अपने मक़सद से अलग होकर हठधर्मी की शक्ल (रूप) अख्तियार (धारण) करती है। मज़हब के बानी के पैरोकार (समर्थक, पीछे चलने वाले चेले) अपने जोश व ख़रोश (भावनात्मक उफान और उबाल) में अपने नेता से भी आगे बढ़ जाते हैं; और मज़हब रूहानियत का ज़रिया (साधन) न रहकर इन्सानियत के हक में अज़ाब (अभिशाप) बन जाता है। सच बात तो यह है कि रूहानियत का आलातरीन मेऽआर (श्रेष्ठतम मापदण्ड) भी अगर हक़ीक़त के दीदार (दर्शन) और उस तक रसाई का ज़रिया (पहुँच का साधन) नहीं बना रहता, तो आगे की तरक़्क़ी में रुकावट पैदा करने लगता है। अपने को जैसे और जो कुछ कि हम हैं जानना और वही हो जाना रूहानियत का मेऽआर है, और उसके आगे अपनी 'आत्मा' को उस 'परमात्मा' की राह में भूल जाना और उसके असली दर्शन की मस्ती

में अपनेपन से बेख़बर उस हक़ीक़ी महबूब (परम प्रियतम) के इशारे पर लगातार आगे, और आगे, और और भी आगे बढ़ते जाना रूहानियत के आलातरीन मेऽआर से आगे का सफ़र है। मञ्जिल तो इससे भी बहुत आगे है, जहाँ जो कुछ जैसा है, वह बस वैसा ही है : 'जो है सो है'; और उसे और उससे आगे, जो जाने सो जाने।

●●●

आध्यात्मिक संस्था

(बसन्त पञ्चमी, १९६०)

जो लोग चाहें, कहते रहें कि आत्मा, परमात्मा, मोक्ष आदि का कोई अस्तित्व नहीं है। आप इस प्रकार की बहस को टाल दिया करें, क्योंकि इस तरह के लोग हमारे मिशन की शिक्षाओं के लिए सर्वथा अयोग्य हैं। जो लोग परमात्म-साक्षात्कार से कोई सरोकार नहीं रखना चाहते, उन्हें अपना स्वयं का ही साक्षात्कार करने को कहा जा सकता है। यदि कोई मनुष्य सेवा के विचार से अपने सांसारिक कर्त्तव्य पूरे करता है किन्तु अन्य कर्त्तव्यों की अवहेलना करता है, तो उसे केवल एक पैर से चलने वाला व्यक्ति कहा जा सकता है। महात्मा बुद्ध से जब इस तरह के बेहूदा सवाल पूछे जाते थे, तो वह उत्तर देने से इन्कार कर देते थे। मिशन समाज-सेवा का विरोध नहीं करता, बल्कि वह तो अपने सदस्यों (अभ्यासियों) के हृदयों में इसके लिए स्वाभाविक प्रवृत्ति जाग्रत करता है। किन्तु मुख्य विचार सदैव सर्वश्रेष्ठ (प्रमुखतम) के लिए ही है, जोकि साक्षात्कार अर्थात् दलित जन-साधारण की सच्चे अर्थ में आध्यात्मिक सेवा होती है, जिस-के लिए अभी तक कोई भी उद्यत नहीं है।

वास्तव में सोसाइटियाँ और ऐसी संस्थाएं भी, जो पिछले समय में आध्यात्मिक कोटि की सेवा के लिए ध्यान दिये जाने योग्य रही हैं, अब बड़ी सामाजिक सेवा में संलग्न कही (बताई) जाती हैं; किन्तु वे अपने किसी प्रकार के त्याग के बिना ही सब कुछ करती हैं। हम उन्हें धन देते हैं जिसका इस्तेमाल वे तथाकथित सामाजिक सेवा-कार्य के लिए करती हैं; किन्तु उक्त संचित धन का अधिकाँश भाग अपने पर ही व्यय करने के बाद ही ! उन्हें दूसरे शब्दों में अधिकाँश सामाजिक कार्य के लिए नियुक्त जनसाधारण के वेतन-भोगी नौकर कहा जा

सकता है। यह निर्णय करना आप या किसी भी अन्य व्यक्ति के लिए है कि वे जनता से प्राप्त धन की प्रत्येक पाई का समुचित उपयोग करते हैं या नहीं। उन्हें, अपने सेवा-कार्य के लिए, सम्पन्न लोगों से उधार या भिक्षा के रूप में प्राप्त धन के रूप में शक्ति की अपेक्षा बनी रहती है। दूसरी ओर, मिशन से सम्बद्ध हम लोग, भले ही कितनी कम संख्या में, जन सामान्य के स्रोत से उद्‌भूत उस प्रकार की शक्ति के मुखापेक्षी न होकर, केवल परमात्म दिव्य ज्योति के अक्षय भण्डार पर निर्भर रहते हैं। मैं पूर्ण विश्वास के साथ यह कह सकता हूँ कि इस उपर्युक्त अर्थ में अपने कार्यों और क्रियाकलापों में दिव्यता का दक्षतापूर्ण प्रकाशन प्रस्तुत करने वाली हमारी एक मात्र संस्था है, जो इस प्रकार की अनुपम सेवा में, इस शब्द के सच्चे अर्थ में, संलग्न है। परिणामतः हम ने मानवता के आध्यात्मिक पुनरुत्थान के हित में जितना कुछ मिशन के जीवन के इन थोड़े से वर्षों में कर पाया है, उतना अन्य लोग कितने ही अधिक समय में नहीं कर सके हैं। वह भले ही भूखों को भोजन देते हों, जो कि उनके पेट में चौबीस घन्टे मात्र रहता है; किन्तु हम आध्यात्मिक क्षुधार्त लोगों को जो कुछ देते हैं, उन्हें स्थायी रूप से प्रभावित करता है, यहाँ तक कि समस्त विपरीत परिस्थितियों में भी, संक्षेपतः हम सदैव बिना किसी अन्य विचार के अपने मुख्य आदर्श के प्रति संलग्न रहते हैं। यही भाव सभी परिस्थितियों के अन्तर्गत सदैव स्थापित रखने योग्य है, यदि एक वास्तविक आध्यात्मिक संस्था जन सामान्य की सेवा वास्तविक रूप में इसी तरह निरन्तर करते रहना चाहे !

संसार अथवा विश्व की उत्पत्ति के विषय में आप ने अपने मित्रों से जो कुछ कहा, सर्वथा पर्याप्त है। प्रत्येक क्यों का उत्तर नहीं दिया जा सकता। उदाहरणतः यदि आप प्रश्नकर्ता से पूछें कि उसने यह प्रश्न क्यों पूछा, तो वह स्वभावतः यही कह सकता है कि वह इस विषय में जानना चाहता था। किन्तु वह क्यों जानना चाहता था ? उत्तर हो सकता है कि 'ज्ञान मात्र के लिये' तो फिर 'ज्ञान के लिए क्यों' ? मुमकिन है कि वह कहे कि 'यह तो स्वाभाविक ही है'। उससे फिर भी पूछा जा सकता है कि 'स्वाभाविक क्यों', और इसी प्रकार

आगे भी। प्रश्नों का कोई अन्त नहीं हो सकता, यदि वह केवल पूछने के लिए पूछे जायें। अन्ततः चुप ही हो जाना पड़ेगा, और यही सारे प्रश्नों का अन्त होगा। इससे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि सृष्टि का अस्तित्व तब हुआ जब मौन भंग हुआ अर्थात् संतुलन विशृंखल हुआ। यह प्रदर्शित (सिद्ध) करता है कि मौन सक्रियता का अन्त है। अब एक अन्य सूक्ष्म (कोमल) बिन्दु प्रस्तुत होता है कि मौन कहाँ से आया है। यह निष्क्रियता का परिणाम है। अतः इसका अर्थ है कि निष्क्रियता सभी कुछ का प्रमुख उद्गम है। मौन को अपने परिणाम के रूप में समाविष्ट किये हुए निष्क्रियता का अस्तित्व केन्द्रीय क्षेत्र में विद्यमान अदृश्य गति का कारण बन गया।

दर्शनशास्त्री यह बहस करते रहें कि अनस्तित्व (कुछ न होने) से कुछ नहीं ही प्राप्त हो सकता है, किन्तु जब उसमें जिसे मैं ने अनस्तित्व (कुछ न होना) कहा है, अस्तित्व मौजूद है, तो उन (दर्शनशास्त्रियों) की युक्ति ठहर नहीं पाती। यह अत्यन्त ऊँचा विचार है, जो अभिव्यक्ति से लगभग परे है। इस पर काफी अधिक विचार कीजिए, यद्यपि आपका अभी इससे प्रायः थोड़ा सा भी सरोकार नहीं है। इस सन्दर्भ में एक बात और। जब शून्य किसी संख्या से जुड़ता है, तो उसका मूल्य (मान) दस गुणा बढ़ जाता है। अतः शून्य आधारभूत है, जिस के बिना गणित शास्त्र खड़ा नहीं रह सकता। इसी तरह परमात्मा को अस्तित्व के लिए आधारभूत सोचिए। मैंने अपनी पुस्तकों में इसी की संक्षिप्त किन्तु वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है।

परिव्याप्त होने की स्थिति वही नहीं है जोकि कृष्णजी का विराट रूप है। वह तो केवल ब्रह्माण्ड मण्डल का एक परिदृश्य था, जहाँ कि सभी कुछ इस संसार में स्थूल भौतिक रूप धारण करने के पहले सूक्ष्म रूप में घटित होता है। भारत में कुछ थोड़े ऐसे लोग हो सकते हैं; जो ऐसे परिदृश्य को अपने दृष्टि-क्षेत्र में ला सकने में सक्षम हों, किन्तु यह आध्यात्मिकता का प्रमाण नहीं है। मान लीजिए कि आप किसी अन्य व्यक्ति की शक्ति की सहायता से ऐसा परिदृश्य दृष्टिगोचर कर लें, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि आप (इस से) आध्यात्मिक हो गये।

वास्तव में यह किसी घटना का सूक्ष्म दृश्य होता है जोकि, कालान्तर में स्थूल रूप में संसार में प्रकाशित होने वाला होता है, जैसे कि आपकी मानसिक इच्छा-शक्ति (समीहा) और इरादा कालान्तर में आपकी शारीरिक क्रिया के स्थूलतर रूप में प्रस्तुत (प्रकट) होता है।

अतएव उस आध्यात्मिकता के असली रूप के प्रति दृढ़ संलग्नता होनी चाहिए, जोकि हमारे मिशन के आधार में पुनर्प्रस्तुत हुई है। अपना स्वयं का कार्य और स्थान स्पष्ट रूप से समझने की आवश्यकता है और स्वयं अपना कर्त्तव्य विनम्रता पूर्वक सही ढंग से निभाया जाना चाहिए। एक फ़ारसी की कहावत में सन्निहित चेतावनी स्मरण रखने योग्य है :

मुर्शिदाँ रा पैरवाँ बख़्शन्द परवाज़े कमाल।

(अध्यात्म के गुरु नहीं वरन् उनके पीछे चलने वाले (शिष्य) ही उन्हें पूर्णता के भ्रम के स्तर तक उठाने वाले होते हैं।)

●●●

सुप्रभावी साधना

(३० अप्रैल, १९६०)

यह युग और समय ऐसा है कि कोई भी उस एक (अद्वितीय) परमतत्त्व का साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है। इससे भला क्या लाभ कि हमको संसार का साम्राज्य दे दिया जाये, किन्तु हमारे (उस) वास्तविक घर से दूर रखा जाये, जहाँ से कि हम आये हैं। संसार में ऐसे लोग हैं जिनके पास अत्यधिक धन-दौलत है किन्तु वे सुखी नहीं हैं। उनके हृदयों पर भारी बोझ रहता है कि वे उस शांति से वंचित हैं, जिसे वे भौतिक वस्तुओं में खोजना चाहते हैं। जब तक हम इस संसार में आ रहे हैं, हम क्षुब्ध (परेशान) रहेंगे और विभिन्न प्रकार की इच्छाओं के दंश से पीड़ित रहेंगे। हम देखते हैं कि कुछ लोग मर रहे हैं और कुछ दर्द और बीमारी में कराह रहे हैं। कुछ अन्य लोग अपने प्रियजन को खोकर दुःखी हैं। अतः संसार विपत्ति का घर है। इन सभी क्षणभंगुर बातों से छुटकारा पाने का उपचार आत्म-साक्षात्कार के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकता। यही विमुक्ति और जीवन का लक्ष्य है। कोई यह भी प्रश्न कर सकता है कि आध्यात्मिक प्रशिक्षण में व्यस्त रहना भी पीड़ा ही है। इस विषय (संदर्भ) में मैं सुरक्षित रूप से यह और कहूँगा कि मानवता के नैतिक और आध्यात्मिक मापदण्ड की उन्नति मनुष्य का कर्त्तव्य है। इससे भी बढ़कर, सचमुच सन्त वही है जो दूसरों की पीड़ा अनुभव करता है; उनके लिए स्वयं दुःख झेलता है और बिना किसी स्वार्थपूर्ण अभिरुचि के उन्हें उठाने के लिए प्रयत्न करता है। शब्द थोड़े हैं, जो ऐसे व्यक्ति से आ रहे हैं जो मर चुका है और जा चुका है, और किसी व्यक्ति से आनेवाले शब्द जब वह जीवित न रहे, स्वभावतः मूल्यवान् समझे जाते हैं, और आमतौर पर पालन किये जाते हैं। यह मानवीय मानसिकता है। आप जितना

ही शीघ्र लक्ष्य तक पहुँचें, मेरे और मानवता के लिए उतना ही अच्छा है। यह और भी अच्छा होगा यदि साक्षात्कार के मार्ग पर अपने साथ आप कुछ और यात्री ले लें।

एक अन्य प्रश्न है कि प्रार्थना किसके प्रति निवेदन करनी चाहिए। यह भी अत्यन्त स्पष्ट है। प्रार्थना 'मालिक/नाथ' को निवेदित है जैसा कि उसके शब्द ही इंगित करते हैं। अब मालिक/नाथ कौन है ? इस विषय में कोई मतभेद हो ही नहीं सकता। मालिक/नाथ निःसन्देह परम श्रेष्ठ ईश्वर (परमात्मा) है। मालिक/नाथ ईश्वर (परमात्मा) यानी सर्वोच्च शक्ति (ही) है किन्तु हर किसी के लिए अपने को ईश्वर (परमात्मा) से सीधे सम्बद्ध कर पाना आसान काम नहीं है। अतः हम सुविधा और सहज पहुँच के लिए पुराना प्रतिष्ठित सिद्धान्त (अपना) लेते हैं कि 'अपने गुरु को ब्रह्म (परमात्मा) जानो'। अब यह तय करना आप पर (के लिए) है कि दो तरीक़ों में से आप के लिए कौन सा अधिक, उपयुक्त होगा। आगे चलकर, मिशन की निर्धारित प्रार्थना में 'हम/हमारी' शब्द सामान्य रूप में मनुष्यमात्र का संकेतक है क्योंकि हर कोई, बिना एक भी अपवाद के सच्चे अर्थ में इच्छाओं का दास है। अतः प्रार्थना में हम उस (मालिक/परमात्मा/समर्थ सद्गुरु) के समक्ष मानव जाति को सम्पूर्णरूप में लेकर उसकी सामान्य दशा/गति प्रस्तुत करते हैं। किंतु हमारी प्रार्थना अपनी विमुक्ति के लिए है; अतः अन्त में 'मुझे/मेरे लिए' शब्द प्रयोग किया गया है।

मुझे कोई ऐसी पद्धति नहीं मिल पाई जो थोड़े दिनों में व्यक्ति के चित्त को पूर्णतः स्थिर कर दे। यदि ऐसा कोई तरीक़ा मिल भी सकता हो तो वह आपकी सद्गति का मार्ग प्रशस्त नहीं कर सकता। जब तक कोई व्यक्ति अपने पुराने संस्कारों से मुक्त नहीं हो जाता वह मोक्ष की स्थिति अर्जित नहीं कर सकता, जैसा कि हमारे शास्त्र बताते हैं। मेरा उद्देश्य यह है कि आप अथवा अन्य कोई अभ्यासी अपने इसी जीवन में मोक्ष की स्थिति प्राप्त करे। इसलिए मैं उसके चित्त-सागर में उठनेवाले विचारों को रोकने का प्रयास नहीं करता, क्योंकि यही ऐसे उपकरण हैं, जो पूर्व संचित संस्कारों को भोग के लिए उभारते हैं।

कभी-कभी हमें विचारों को तीव्र गति प्रदान करनी होती है जिससे कि पूर्व संचित संस्कारों से अभ्यासी को छुटकारा प्राप्त हो। यह ठीक है कि वे संचित संस्कार अभ्यासी की भक्ति की शक्ति से भस्म हो सकते हैं; और यदि वह भुने हुए संस्कार शेष भी रहते हैं, तो उनका प्रभाव गहरा नहीं रहता। यह सहजमार्ग पद्धति की दक्षता है कि आध्यात्मिक विकास के लिए सोपान पर पहुँचने के बाद आगामी भोग के लिए अभ्यासी के संस्कार बनना समाप्त हो जाते हैं। पूर्व संचित संस्कार व्यक्ति के चित्त के माध्यम द्वारा आगामी भोग के लिए ही प्रस्तुत होते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि जीवन के तूफ़ान और झंझावात को सहन करने के लिए शान्ति और स्थिरता की गहनता और तीव्रता मात्र ही पर्याप्त नहीं होती। यह सच है कि इस (शान्ति और स्थिरता) की प्राप्ति प्रारम्भिक वस्तु है जिसका अर्जित किया जाना आवश्यक होता है और हम सभी क्रमिक सोपानों द्वारा उसकी ओर बढ़ते हैं। किन्तु हमारी रफ़्तार जितनी ही तेज़ होगी, इस संदर्भ (विषय) में हमारी उन्नति उतनी ही शीघ्र होगी। अतः हमें अपनी चाल तेज करनी है। यह कैसे किया जाये ? इसकी प्रक्रिया बहुत आसान है–अपने को जिस हद तक सम्भव हो मालिक को समर्पित कर दें। यह कैसे करें ? उत्तर है : अपने कर्त्तव्यपालन में लगे रहो और परिणाम उस (मालिक) की इच्छा और खुशी पर छोड़ दें। बदले में वह (मालिक) जो भी दे उससे सन्तुष्ट रहें, भले ही वह शान्ति, सुख, सन्तोष, अस्थिरता, पीड़ा में से कुछ भी क्यों न हो। उनकी इच्छा और ख़ुशी के प्रति पूर्ण समर्पण की स्थिति में, अपनी पसन्द और नापसन्द की उपेक्षा करके हर बात (चीज़) को दिव्य आशीर्वाद के रूप में ग्रहण करें। आप समर्पण के शुभ गुण अच्छी तरह जानते हैं और यहाँ उस (समर्पण) को विकसित करने की प्रक्रिया बताई गई है।

समर्पण सभी कठिनाईयों का एकमात्र सर्वश्रेष्ठ समाधान है और सहज सफलता का पूर्ण निश्चित साधन। जितना ही अधिक समर्पण होगा लक्ष्य उतना ही समीप होगा। उच्चतर माध्यमिक उन्नति के लिए विश्वास आवश्यक चीज है। एक बच्चा बढ़ते हुए लगभग ६ फुट की

लम्बाई प्राप्त कर लेता है, किन्तु वह प्रतिदिन यह अनुभव नहीं कर सकता कि उसकी लम्बाई इतनी बढ़ गई है। इसी तरह शिष्य या अभ्यासी अपनी वास्तविक पहुँच को नहीं जान सकता किन्तु केवल उस के चिह्नों को जान पाता है, जैसे कि शान्ति, और अस्थिरता की मात्रा में कमी आदि। अभ्यासी की वास्तविक पहुँच का पता दरअसल (सही रूप में) केवल गुरु को ही रहता है, जोकि शिष्य को आध्यात्मिक प्रगति के विभिन्न बिन्दुओं व क्षेत्रों में ले जाता है। मुझको स्वयं अपनी वास्तविक पहुँच का पता नहीं रहता था किन्तु मुझमें एक बात यह परिपक्व हो गई थी कि विशिष्ट बिन्दुओं और क्षेत्रों से सम्बन्धित अपनी स्थिति को अभिव्यक्ति देने के लिए मैं स्वयं अपने द्वारा गढ़े शब्दों का प्रयोग करने का आदी हो गया था। मुझे अपनी इस समय की स्थिति का पता है क्योंकि यह मेरे प्रति मेरे समर्थ सद्गुरु द्वारा प्रकाशित की गई है। किन्तु यदि आप मुझसे उस स्थान की स्थिति के विषय में पूछें तो मैं मूक हो जाऊँगा, क्योंकि वहाँ पर अनुभव करने के लिए कुछ है ही नहीं। यहाँ तक कि अनुभव शक्ति भी विदा हो गई है और यही कहा जा सकता है कि मैं एक निष्क्रिय पत्थर जैसा बन गया हूँ। मैं आप सबको उस (आध्यात्मिक उन्नति) के सोपान तक ले जाना चाहता हूँ जहाँ शान्त (मौन) धक्के से भी शान्ति (मौन) भग्न नहीं होती (होता)।

प्रकाश के अन्दर सदैव अन्धेरे धब्बे रहते हैं, जिनके अभाव में प्रकाश की गति (यात्रा) ही सम्भव नहीं रह पायेगी। अतः यदि कोई अभ्यासी कुछ समय के लिए अपने में गन्दलापन अनुभव करता है तो उसे दैवी कृपा के आविर्भाव की सूचना देनेवाले चिह्न के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए। जहाँ अन्धेरा है ही नहीं वहाँ प्रकाश आयेगा ही नहीं। इस प्रकार एक समर्थ सद्गुरु (मालिक) के मातहत आपके आध्यात्मिक अभ्यास के दौरान जो कुछ भी घटित होता है वह सब आपके अपने हित (शुभ) के लिए घटित होता है। आप उसे अपने अन्दर रखना या उतारना चाहते हैं तो फिर उसकी कृपा को प्रवेश देने के लिए कुछ न कुछ प्रतीक अथवा चिह्न के रूप में होना ही चाहिए। अतः जिसे हम अपने अज्ञानवश अशुद्धता समझते हैं, वह

वास्तव में इसी तरह का प्रतीक या चिह्न होता है। ध्यान के अभ्यास के समय अनुभव में आनेवाले, अस्थिरता पैदा करने वाले विचार यही संकेत करते हैं कि अभ्यासी या साधक अपने वैयक्तिक चित्त की अशुद्धताओं से साफ हो रहा है। विषैला तत्त्व बाहर निकल ही जाना चाहिए। सच कहें तो मैं इस तरह की ट्रेनिंग देना चाहता हूँ कि अभ्यासी विचारों द्वारा परेशान ही बना रहे, किन्तु मैं ऐसा करने से अपने को रोकता हूँ। क्योंकि फिर तो कोई भी मेरे साथ बैठना पसन्द ही नहीं करेगा, और जब कि हर व्यक्ति मेरे पास शान्ति पाने के लिए ही आता है।

मैंने दीक्षा को कुछ चुने हुए थोड़े लोगों के लिए आरक्षित रखा है, जिन्हें अपने समर्थ सद्गुरु (मालिक) के प्रति कभी न हिल सकने वाला विश्वास और लगाव (भक्ति) पैदा हो गया है। दीक्षा समर्थ सद्गुरु (मालिक) और शिष्य को इस तरह जोड़ (सम्बद्ध कर) देती है कि समर्थ सद्गुरु (मालिक) उसे (शिष्य या अभ्यासी को) छोड़ सकने के विषय में असमर्थ हो जाता है।

शिष्य को यह स्वतन्त्रता प्राप्त रहती है कि वह समर्थ सद्गुरु (मालिक) की किसी क्षण अवहेलना/उपेक्षा करे। दूसरे शब्दों में दोनों (समर्थ सद्गुरु और शिष्य) परस्पर बँध जाते हैं। मैं अन्दरूनी दर्द और तक़लीफ महसूस (अनुभव) करता हूँ यदि कोई दीक्षित अभ्यासी बहक जाता है या विमुख हो जाता है या ध्यान का अभ्यास और आध्यात्मिक उन्नति का विचार छोड़ बैठता है। इस तरह यह कठिनाई है जोकि दीक्षा के साथ-साथ लगी रहती है। दीक्षा समझ, विवेक अथवा संवेदनशीलता में वृद्धि नहीं करती। अभ्यासी की प्रगति तो भक्ति यानी लगाव, सतत्-स्मरण और दृढ़ विश्वास के द्वारा होती है। किन्तु यदि कोई अभ्यासी इन सबसे सम्पन्न है तो आध्यात्मिक प्रगति के हित में यह (दीक्षा) पूर्णतः निश्चित और अतिरिक्त सहायता का साधन बन जाती है। अभ्यासी या शिष्य के विचार की कड़ी समर्थ सद्गुरु (मालिक) के माध्यम से मुख्य लक्ष्य के साथ जोड़ दी जाती है जोकि कम से कम मोक्ष की सीमा तक टूट नहीं सकती। यदि कोई (दीक्षित)

अभ्यासी अविकसित अवस्था में ही दिवंगत हो जाये तो वह कड़ी (सम्बन्ध) अगले जन्म में भी सतत् मौजूद रहती है और आध्यात्मिक लाभ निरन्तर प्रदान करती रहती है। यदि समर्थ सद्गुरु दिवंगत हो जाता है तो दीक्षित अभ्यासी आध्यात्मिक प्रवाह की लहर को प्राप्त करता रहेगा और समर्थ सद्गुरु (मालिक) से विरासत के रूप में अपना हिस्सा भी प्राप्त करेगा। दूसरे शब्दों में वह (दीक्षित अभ्यासी) अपने आध्यात्मिक पिता की सम्पत्ति में हिस्सेदार बन जाता है। आत्मा जब मोक्ष की दशा प्राप्त करती है तो वैसी ही नग्न हो जाती है जैसी कि वह अपने आप में थी। समर्थ सद्गुरु (मालिक) द्वारा अपने जीवनकाल में अर्जित शक्ति उसके दीक्षित शिष्यों में वितरित होती है और दीक्षित शिष्यों का उत्तरदायित्व बहुत अधिक हो जाता है। प्रतिनिधि सदैव दीक्षित सदस्यों (अभ्यासियों) में से ही चुना जाता है। इस सम्बन्ध में यह लगभग सब कुछ है जोकि बताने योग्य है।

●●●

सही रास्ता

(बसन्त पञ्चमी, १९९१)

आमतौर पर लोगों को साकार व निराकार का मामला दिक् कर रहा है। दोनों रूप से ईश्वर मिल सकता है, मगर सीढ़ी-ब-सीढ़ी चढ़ना होगा। जो शख़्स साकार उपासना करते हुए अज़-ख़ुद (स्वयं ही) निराकार पर न आ जावे, तो समझ लीजिए कि उसने साकार उपासना ठीक तरह से की ही नहीं; और जो शख़्स निराकार उपासना करते हुए उससे परे वाली हालत में न चला जाये, तो उसने निराकार उपासना ठीक तरह की ही नहीं। मुक्त तभी हो सकता है जब कि राम और कृष्ण कहते हुए भी उन दोनों शक्तियों को पार कर जावे। मीराबाई ने तमाम उम्र कृष्ण ही कृष्ण कहा, मगर वह कृष्णमय हो गई थीं और जगत् उन्हें ऐसा ही मालूम होता था। वह एक ही रूहे-रवां (आत्मा का प्रवाह) सबमें देखती थीं, अब उसका ख़्वाह (भले ही) कृष्ण के नाम से ख़िताब (सम्बोधन) करती हों, यह और बात है। मैं अव्वल दर्जे (प्रथम कोटि) की ठोस हालत उसको समझता हूँ कि अपनी हालत न हटे या अपने स्वभाव को न छोड़ सके; और यह ऐसी बुत-परस्ती (मूर्ति पूजन) है जिसके अन्दर और बाहर ठोसता के सिवा और कुछ नहीं है।

भाई, हम भी तो अपने यहाँ साकार से चलते हैं—ज़ाहिरा तौर पर। साथ ही साथ हम वह चीज़ दानिस्ता या नादानिस्ता (जाने-अनजाने) ले लेते हैं जो साकार और निराकार से परे है। सिखाने वाला कभी किसी को ग़ार (गड्ढे) में नहीं गिराता, जबकि उसकी निगाह में असलियत ही असलियत फिर रही हो। यह राजयोग में ही ताक़त हो सकती है कि असलियत ही असलियत भासने लगे; और जब हमारा काम बनता है तो हम उसको क्यों न ले लेवें। हम निकटतम चीज़

शुरू से ही लेते हैं। यह क़रीब-तरीन (निकटतम) चीज़ क्या हो सकती है ? वही जो सबसे पहले थी और आख़िर में भी रहेगी। दूर दराज़ चीज़ क्या हो सकती है ? जो उस चीज़ के मन्थन करने में पैदा हुई; और उसके बनने में बहुत वक्त सर्फ़ (खर्च) हुआ।

हमको तो इतना सीधा-सादा बनना है जैसे कि नेचर (कुदरत, प्रकृति) है; और यही सादगी उसकी जान है। अपना टेढ़ापन हर तरीक़े से खो देना है, ताकि हम नेचर (कुदरत, प्रकृति) से समरस (समञ्जस) हो सकें। कुदरत की सादगी ख़ुद उसका नक़ाब बन गई है। हमारी सादगी भी अगर कहीं नक़ाब बन जावे तो मुमकिन है कि हम अपनी हालत उसी की पाने लगें और पूरा सबूत हो जावे कि वाक़ई हम उससे हम-आहंग (समञ्जस) हैं। इस हिमाक़त (मूर्खता) की मिसाल, अगर आप गौर करें तो आपके क़रीब ही मिलेगी। मुमकिन है कि मुझमें कुछ ऐसी सादगी मिले जिसका हासिल करना मेरा मतलब हो।

कुदरत में ज़ोर भी अक्सर पैदा हो जाता है। कब ? जब कोई ताक़त उसी की बनाई हुई, नतीजा मतलूब (उद्दिष्ट-परिणाम) बरामद करने (निकालने) के लिए अपनी लिंक (कड़ी) उससे जोड़ देती है। ऐसी ताक़त रखने वाले के लिए यह हुक्म होता है; और उसकी मौजूदगी भी इसीलिए होती है। उसका बनाव (निर्माण) भी इसीलिए होता है। जब तक नेचर की सादगी में रंग नहीं दिया जाता, शफ़क़ (ऊषा) का आग़ाज़ (आरम्भ) नहीं होता। क़ानूने-कुदरत (प्रकृति का विधान) उस को ऐसा करने के लिए विवश करता है। यह कब होता है ? जब ज़माना (समय) तबादिला (परिवर्तन) पर होता है; और जब मालिक की मौज (इच्छा) उन ज़हरीले असरात (विषैले परिणामों) को दूर करने की होती है।

हमको कुदरत की तरह सादा ही बनना चाहिए। यह और बात है कि वह (नेचर) अपने में उबाल पैदा करने के लिए किसी को ऐसा बना लेवे। कुदरत की ज़िन्दगी और फैलाव हमेशा सादा ही रहेगा। उसमें अलबत्ता (निःसन्देह) किसी विशिष्ट इच्छा-शक्ति वाले व्यक्ति के

असर (प्रभाव) से लहरें पैदा होने लगती हैं, जिसके ज्यादा बढ़ जाने की हालत को मैंने उबाल कहा है। अगर कुदरत में उबाल ही होता, तो उसके स्पन्दन (तरंग) में ऐसे मद्दोजज़र (ज्वार-भाटा, उतार-चढाव) रहते की हर जगह असमानता ही नज़र आती और बहुत से ग़ार (गर्त) ऐसे बन जाते कि उसकी हमवार समरसता को बदनाम ही करते। उबाल से मतलब (अभिप्राय) मेरा गुस्सा से नहीं है—यह तो निहायत बुरी चीज़ है; बल्कि इससे मेरा मतलब यह है कि जो बात एकसानियत (समरसता) के ख़िलाफ़ हो, उबाल की हालत कही जा सकती है; अर्थात् किसी व्यक्ति की मौजूदा शक्ल जो ठहराव के ख़िलाफ़ हो। मैंने ऊपर कहा है कि अगर कुदरत उबाल की शक्ल शुरू से ही अपने में पैदा कर लेती तो हर रोज़ परिवर्तन ही हुआ करते और उस में एकसानियत और सादापन जाता रहता। हर जगह ग़ार ही ग़ार नज़र आते। जो उबाल किसी व्यक्ति में मौजूद हो, उसका-उफान उस व्यक्ति में तकलीफ़ पैदा कर देता है। मेरी तवज्जह उस उफान को साकित (शान्त) करने के लिए र-वाँ (प्रवाहित) होती है। व्यक्ति में यह उबाल क्या है ? यह उसके मनका तलातुम (तूफान/उथल-पुथल) है। यह शुद्ध क़िस्म की गड़बड़ी है। मैं उसको दूर करने का प्रयत्न करता हूँ; और यह अच्छी तरह दूर तब होती है जब अभ्यासी मेरी तरकीबों को साथ लेकर चलता है, और मुझको मौक़ा (अवसर) देता है कि मैं असलियत की तरफ़ ले जाने की ज़्यादा कोशिश करूँ।

जब इन्सान (मनुष्य) को सही रास्ता मिल जाये और यक़ीन (विश्वास) और तजुर्बा (अनुभव) उसको सही साबित कर दे तो फिर वही रास्ता अख़्तियार करना (अपनाना) चाहिए। सही रास्ता वाक़ई (सचमुच) बड़ी मुश्किल से मिलता है। अगर ईश्वर कृपा करे और कोई व्यक्ति सही रास्ते पर आ जावे तो यह कुफराने-नेऽमत (ईश्वर-कृपा के प्रति कृतघ्नता) होगी कि वह किसी और रास्ते की तरफ़ निगाह करे। तरक़्क़ी की निशानी यही हो सकती है कि सुगम और ठीक रास्ते पर पड़ जावे और सिवाय ईश्वर के किसी का ख़्याल न आवे। किसी बुजुर्ग ने कहा है कि सिवाय (अलावा) ईश्वर के किसी और का ख़्याल अगर दिल में बाक़ी (शेष) है तो सही माऽनों में उसने अभी

ईश्वर से मुहब्बत की ही नहीं। इश्क़ की परिभाषा यही है :

न आशिक़ आँ कि जुज़ माशूक़ बीनद।
न माशूक़ आँ कि जुज़ वे दर जहान अस्त।।

(न तो वह प्रेमी है कि जो प्रेम पात्र के अलावा अन्य किसी/कुछ को देखे; और न ही वह प्रेमपात्र है कि जिसके अतिरिक्त विश्व में और कुछ/कोई भी शेष हो।)

रास्ता तै करके मञ्ज़िल तक पहुँचने में वक़्त लगने के बारे में इतना ही कहना काफ़ी है कि शिद्दत बढ़ाने से मुद्दत कम हो जाती है। मञ्ज़िल तक पहुँचने की ज़रूरत (आवश्यकता) और चाहत (आकाँक्षा) जितनी तेज़ (तीव्र) होगी, रास्ता तै करने में लगने वाला वक़्त उतना ही कम होता जायेगा। यहाँ तो भाई, कोई क़ाबिलियत में चूर है; किसी को अमल और अभ्यास का ज़ोऽम (अभिमान) है; किसी को गद्दी-नशीनी का ख़्याल और फ़िक्र। ग़र्ज़े कि (मतलब यह है कि) ऐसे ही लोगों की ताऽदाद (संख्या) ज़्यादा है। कहाँ तक रोऊँ ! उनका इलाज क्या है ? सब वक्त पर सुधर जावेंगे। मेरी लुग़त (शब्द-कोश) में महात्मा, फ़क़ीर, सन्त, सद्गुरु आदि लफ़्ज़ों के माऽनी (अर्थ) 'नाचीज़ हस्ती' (नगण्य अस्तित्व) है याऽनी ऐसा व्यक्ति जो आप को और दीगर असहाब (अन्य लोगों) को रूहानी तरक़्क़ी (आध्यात्मिक प्रगति) दे सकता है। आप गिरह (गाँठ) बाँध लीजिए कि जिस महात्मा में यह चीज़ मिले और जो इस ख़्याल से पूर (भरा) हो, वही महात्मा कहलाने के क़ाबिल (योग्य) है। क़ाबिल आदमियों की इस दुनिया में कमी नहीं। बहुत से ऐसे लोग होंगे कि हर सवाल का जवाब उन की ज़ुबान की नोक पर हो। साथ ही साथ अमली ज़िन्दगी (व्यावहारिक जीवन) भी हो और अभ्यास भी; मगर ऐसे बहुत कम मिलेंगे कि जो मर मिटे हों, और उनमें भी शाज़-व-नादिर (कदाचित् ही कहीं) ऐसा कि जिसके लिए ऊपर किसी बुज़ुर्ग का कहा हुआ फ़ारसी का शेऽर है। मालिक सबको मञ्ज़िल तक पहुँचने की तौफ़ीक़ (अनुकूलता) अता (प्रदान) करें।

●●●

May 1991

सेवकाई

(३० अप्रैल, १९९१)

सेवक की सेवकाई इसमें भी है कि मालिक के आने के इन्तज़ार में रहे। अगर मैं ऐसा करता हूँ तो यह भी एक तरह की सेवा है। मुझे तो इस चीज़ में आनन्द आता है कि मालिक काम लिये जायें। मैंने तो जब से होश संभाला, मालिक ही को देखा; और जब होश बिगड़े, तब सब को मालिक समझने लगा। हर हाल में मेरी सेवकाई क़ायम रही। आप कहेंगे कि अच्छी सेवकाई है कि एक को तबीयत भर के देखना था, और सभी को ही ऐसे ही देख बैठे !

इसकी वजह यह है कि सेवकाई करते-करते मुझे सेवकाई का होश शेष नहीं रहा। ख़्याल मालिक पर डटा हुआ था, क्योंकि मैंने एक ही को मालिक समझा। इसलिये बेहोशी में भी मालिक का होश रहा। मगर वह होश ऐसा था कि उस होश की मुझे ख़बर नहीं रही। इसलिए उस ख़्याल का इतना पसारा (विस्तार) फैला कि वह चीज़ सब में फैल गई। यहाँ तक नौबत आई कि सब में वही चीज़ घूमने लगी, जो पसारे की शक्ल अख़्तियार कर चुकी थी। समझने यही लगा कि यह सब एक ही है। और भाई, देखते-देखते निगाह ने भी साथ ऐसा दे दिया; इसलिए कि निगाह भी ऐसे मालिक पर जमी जिसके हाथ में पूरी मिल्कियत मौजूद थी, और सब कुछ उसके हाथ में था। ईश्वर की मिल्कियत सुनी और पढ़ी है, मगर मालिक की हैसियत और मिल्कियत अब समझ में आई।

ऐसा मालूम होता था कि कुदरत (प्रकृति) अपने काम से अब बिल्कुल दस्तबरदार (अलग) हो चुकी है। ऐसे ही मालिक की सचमुच

आवश्यकता है। हमें अपना रुख़ (रुझान) ऐसे ही पर करना चाहिए। तो फिर यही नतीजा हो सकता है कि कुदरत दस्तबरदार मिलेगी, क्योंकि ऐसा व्यक्ति कुदरत की रग और दिल हो जाता है। इसलिए मेरा दिल यही चाहता है कि सबको ऐसे ही मालिक की तलाश करना चाहिए, जिसका ख़्याल और ध्यान यह असर पैदा कर दे। ऐसा मालिक तभी मिलेगा जबकि हम फ़राख़-दिल (उदार-हृदय) हो जायें, और तंगनज़री (संकुचित दृष्टि) को छोड़ बैठें। तंगनज़री उस समय दूर हो सकती है जब कि हम अपने ख़्याल को तंगी से रोक दें; और यह चीज़ उस समय पैदा हो सकेगी जबकि हम हठधर्मी से बहुत कुछ दूर हो जायें। यह उस समय सम्भव होगा जबकि हमारी तबीयत में तुलना और विवेक पैदा हो जाये। इससे यह सिद्ध होता है कि विवेक होना सबसे पहली चीज़ है। बुद्धि जब निर्णय कर ले तो उसी पर चलना ठीक होगा; और चलना वही ठीक समझना चाहिए जिसके द्वारा हम सीधे अपने उद्देश्य पर पहुँच जायें।

मेरी नसीहत यही है कि मुझे आप पहुँचा हुआ न समझें बल्कि गिरा हुआ समझें। पहुँचे हुए तो भाई महात्मा ही हो सकते हैं। मुझमें यह बात कहाँ, क्योंकि यह ग़रीब गिरे हुए में ही इतना मस्त है कि सिवाय धन्यवाद के और कुछ इसके पास ऐसा नहीं है जो इस नेऽमत (वरदान-प्रसाद) के लिए अदा करें। तो भाई, महात्मा की तलाश सबको होती है, कि वह बेड़ा पार कर देता है; और गिरे हुए की तलाश सिर्फ़ उसको हो सकती है जो अपना बेड़ा गर्क़ करवाना (डुबाना) चाहे। इसलिए भाई मुझे कौन पूछने लगा ? पूछे जाने का हक़ (अधिकार) सिर्फ महात्मा ही को हासिल है। इस लिहाज़ से अगर कोई महात्मा की याद और ध्यान करता है तो मैं समझता हूँ कि वह सही होगा।

उम्दा और अच्छे महल का ख़्याल उस शख़्स को ज़रूर आता है जो उसे एक दफ़ा भी देख चुका है; और टूटे-फूटे महल का ख़्याल एक दफ़ा भी नहीं आता चाहे वह सौ मर्तबा भी देख चुका हो। हमको किसी की अदा में मस्त नहीं होना चाहिए, बल्कि अपनी उस अदा में

मस्त होने की कोशिश करनी चाहिए जिसकी अदाई भी उस मालिक से हो। बस यही मेरी नसीहत है; आगे आप जानें क्योंकि चलना आप ही को है। गिरे हुए की बात भी गिरी हुई समझी जाती है, मगर आप ऐसा न समझें—यही मेरी प्रार्थना है। मैंने यहाँ अपनी समझ से कोई बात नहीं छोड़ी जो आप के लिए काफ़ी न हो। आशा है कि इसको बार-बार पढ़ कर सोचेंगे, और फ़ायदा उठाने के लायक़ है तो इससे फ़ायदा उठायेंगे।

●●●

पूर्णता

(बसन्त पञ्चमी, १९९२)

मानव जाति के विभिन्न सांस्कृतिक समुदायों में आत्मा और परमात्मा के विषय में अगणित अवधारणाएं प्रचलित हैं। अतएव 'साक्षात्कार' (Realisation) और 'पूर्णता' (Perfection) शब्दों के भी परस्पर अत्यन्त भिन्न अर्थ प्रचलित हैं। किसी आलोचना या निन्दा (अवज्ञा) के इरादे के बिना ही मैं यहाँ सहज मार्ग दर्शन पर आधारित अपने अभिमत प्रस्तुत कर रहा हूँ।

मेरी पुस्तकों में (अन्यत्र विस्तृत रूप से) वर्णित सृष्टि के आदि-काल तक मानव की प्रारम्भिक स्थिति का दिग्दर्शन, हमारी सृष्टि के समक्ष मनुष्य की उस वैयक्तिक इदन्ता (जीव) की प्रारम्भिक अवस्था का उद्घाटन करता है, जो परमात्मा (ईश्वर) के सन्निकटतम समरूप है। नाममात्र का भेद केवल तुलनात्मक दृष्टि से सघनतर (स्थूलतर) होने के कारण है। हम परमात्मा (ईश्वर) और आत्मा का एक तरह लगभग तादात्म्य सुरक्षित रूप से परिकल्पित कर सकते हैं। अतएव 'ईश्वर-साक्षात्कार' और 'आत्म-साक्षात्कार' समानार्थक पदों के रूप में ग्रहण किये जा सकते हैं। केन्द्र के साथ पूर्ण लय संभव न होने के कारण मनुष्य की पहुँच की सर्वाधिक सीमा, आत्मा (जीव) के प्रारम्भिक स्वरूप में स्थित वैयक्तिक इदन्ता तक ही है। आदर्श के रूप में, दृष्टि में रखने के लिए यही वह चरम बिन्दु है, जिसको प्राप्त करने के लिए हम प्रयास-रत होते हैं; और सहज मार्ग की विचार धारा में मोटे तौर पर पूर्णता का यही अर्थ ग्रहण किया जाता है।

वास्तव में, पूर्णता के लिए कोई संप्रेषण चिह्न निर्धारित करना नितान्त असंभव है। मन, वाणी और कर्म से ईश्वर का भक्त होना प्रगति की एक अवस्था हो सकती है, किन्तु यह पूर्णता नहीं है। ईश्वर

के साथ अन्तःसंसर्ग होना उपलब्धि की एक उन्नत अवस्था हो सकती है, किन्तु वह पूर्णता नहीं है। स्थायी आनन्द की दशा में स्थित होना ईश्वरीय कृपा हो सकती है, किन्तु यह भी पूर्णता नहीं है। सचमुच केवल ईश्वर (परमात्मा) ही पूर्ण है; और कोई भी मरणशील प्राणी, कितना ही उन्नत क्यों न हो, कभी पूर्ण होने का दावेदार नहीं हो सकता। हम अनन्तता के वृहद् विस्तार के बीच प्रयाण करते हुए, स्थूलता (निकृष्ट जड़ता) के सबसे बाहरी वृत्त से केन्द्र अर्थात् अन्तरतम शून्य की दिशा में सीधे आगे बढ़ रहे हैं, जो (केन्द्र अर्थात् अन्तरतम शून्य) मानव अवधारणा से परे है। उस दिशा में दूरतम सीमा तक हमारी पहुँच को ही पूर्णता के सम्पूर्ण सम्भावित अर्थ में ग्रहण किया जा सकता है। हमारे मानवीय अवबोध के निमित्त पूर्ण निषेध या ईश्वर अर्थात् निरपेक्ष सत्ता के साथ एकात्मकता या उससे भी आगे जिसकी अवधारणा या कल्पना हम कर सकने में सक्षम हों, इसे (पूर्णता को) ग्रहण किया जा सकता है।

जिन लोगों को (प्रकृति का) कार्य करने की अनुज्ञा प्राप्त होती है, वे सामान्यतः शक्ति का वरण करने के पक्षधर होते हैं। पुद्गल का वेग शक्ति में वृद्धि करता है, जबकि यथार्थ वस्तु वाञ्छित परिणामों की विभिन्न परिस्थितियों का सृजन करती है। मैं चाहता हूँ कि जो कोई कार्य-भार ग्रहण करे, उसे वह शक्तिहीन-अवस्था प्राप्त कर लेना चाहिए, जो कि सामान्यतः संसार के स्वप्न से भी परे है। यह यथार्थता है। शक्तिहीन के इस उपकरण के द्वारा कोई नक्षत्रों को क्षत-विक्षत कर सकता है और नव-निर्मित विश्व को प्रकाश प्रदान करने के निमित्त अन्य सूर्य का निर्माण कर सकता है। ऐसी शक्तिहीन अवस्था प्राप्त करना पूर्णता है। ज्ञान के प्रति अनुरक्त लोगों के लिए एक बात और ! एक पूर्ण व्यक्ति में समस्त ज्ञान विद्यमान होगा, यद्यपि वह पूर्णतः अज्ञानी या ज्ञानशून्य हो। वह उन समस्याओं का समाधान कर सकता है, जो अपने विशिष्ट ज्ञान-क्षेत्रों के श्रेष्ठतम बुद्धिजीवियों द्वारा हल न की जा सकी हों।

उच्चतम-संभव पूर्णता की ऐसी अवस्था मनुष्य द्वारा उन समस्त आवरणों और परिसीमाओं से मुक्ति प्राप्त करके अर्जित की जा सकना

सम्भव है, जो (परिसीमन और आवरण) सभी प्रकार की शक्ति, क्रिया, ज्ञान, भावना, समीहन, अहंता और चेतना तक को भी संविहित करते हैं। इस अवस्था में अवस्थित व्यक्ति को यह पता नहीं रहता है कि वह 'मैं' या 'वह' शब्दों का प्रयोग किस के लिए कर रहा है; और वह अक्षरशः बिना हाथों के काम करता है, बिना पैरों के चलता है, बिना देखे देखता है, बिना जाने जानता है इत्यादि। यह केन्द्र या शून्य या नगण्यता या उसे कोई चाहे जो कुछ कह ले, एक अत्यन्त विरल किन्तु यथार्थ स्थिति है। किसी को इसे कृत्रिम रूप से उत्पन्न करने का प्रयास नहीं करना चाहिए, किन्तु यथार्थ ढंग से इस तक पहुँचना चाहिए।

●●●

ईश्वर क्या है ?

(३० अप्रैल, १९६२)

हम सदा सोचते रहे हैं–ईश्वर क्या है ? कुछ लोग कहते हैं–कोई ईश्वर नहीं है। यह नास्तिक विचार है। ईश्वर न करे, यदि मैं कहूँ कि ईश्वर नहीं है तो मैं सोचता हूँ कि यह ठीक ही होगा, क्योंकि इसके पीछे यथार्थता (वास्तविकता) का विचार (प्रत्यय) मौजूद है। जब हम 'नहीं' कहते हैं तो उसमें स्वीकारोक्ति निहित होती है और वही यथार्थ वस्तु है। यदि हम 'हाँ' कहें तो इसका तात्पर्य है कि इससे परे कुछ है, जो 'हाँ' का कारण है। तो फिर, कौन अधिक अच्छा है–वे जो 'हाँ' कहते हैं या वे जो 'नहीं' कहते हैं। आप सामान्यतः इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि जो लोग 'नहीं' कहते हैं, वे सही बिन्दु पर हैं। जब हम 'नहीं' कहते हैं तो यह प्रत्यय स्वयं ही आगे की ओर छलाँग भरेगा जिससे कि यथार्थता उसकी गिरफ़्त (पकड़) में आ जायेगी। 'नहीं' शब्द में प्रयोग किये गये अक्षर संयुक्त रूप में निषेध के प्रत्यय को प्रस्तुत करते हैं। यदि हम स्पन्दन में लीन हो जायें, जो कि 'नहीं' शब्द के उच्चारण से उत्पन्न होता है, तो हम निषेधपरक हो जाते हैं। जब हम निषेधपरक हो जाते हैं तब यथार्थता हमारे समक्ष होती है। किन्तु उसमें क़ोई शर्त अपेक्षित नहीं होती है। हम 'नहीं' शब्द द्वारा उत्पन्न स्पन्दन में लीन हो सकते हैं। किन्तु हमें उस स्पन्दन से सापेक्ष सक्रियता का कोई अनुभव नहीं होना चाहिए। यह निषेध का दूसरा चरण है। तीसरे चरण का मैं विवरण दे सकता हूँ, किन्तु लोग उस से बहक सकते हैं; यद्यपि मेरा दिया हुआ विवरण उन वस्तुओं का स्पष्ट संकेत करता है, जिन पर विमर्श (बहस) मुझे अभिप्रेत नहीं है।

निषेधपरक कैसे बना जाये ? उसे आप सब जानते हैं। यदि

वर्तमान गुरुओं के समान मैं भी कुछ क़दम आगे बढ़ूँ, तो आप इसे जल्द ही समझ जायेंगे। आज के गुरु जब किसी को दीक्षा देते हैं तो लोटा-धोती और कम से कम एक रुपया नज़राना (दक्षिणा) माँगते हैं। वे इस कारण विद्या-सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा अलग छोड़ दिये जाते हैं। तो मैं क्यों न अलग छोड़ दिया जाऊँ जब मैं कहता हूँ : "अपना सारा सामान मुझे दे दो।" क्या यह एक तथ्य नहीं होगा कि लोग मुझे आध्यात्मिक क्षेत्र में डाकू के सम्बोधन से अभिहित करेंगे। अपने बचाव (प्रतिवाद) में मैं कहूँगा कि यह विचार व्यापक रूप से भिन्न है जैसा कि मैं कभी-कभी कहता हूँ : "मुझको पूर्णतः लूट लो।" अतः विनिमय डकैती नहीं है। जब मैं किसी भी रूप में आपका सब कुछ लूट लेता हूँ और आपको उसी तरह मेरा सब कुछ लूटने को कहता हूँ तो मैं समझता हूँ कि जिन्हें मुझ में विश्वास है, उन्हें कोई आपत्ति नहीं होगी। मगर इसके आगे भी कुछ रह जाता है। मैं आप से सारा सामान लूट लेता हूँ और बदले में मुझे लूटने को आप से कहता हूँ, तो फिर नुक़सान किस का होता है। संभवतः आपका, क्योंकि मैं पहले ही अपने समर्थ सद्गुरु के हाथों अपना सामान गँवा चुका हूँ। तो फिर, आप भी कह सकते हैं कि जिसे आपने लूटा है, वह आपके साथ पहले से ही रहा होगा। यदि आप मुझे लूटते हैं तो आप बहुत से व्यक्तियों की दौलत (सम्पदा) के स्वामी बन जायेंगे। लेकिन चूंकि मैंने अपने को पहली बाज़ी में गँवा दिया, अतः लूट का माल उसका है जिसने मुझे जीता है। तो फिर आपको विनिमय या बदले में क्या मिला ? बस कुछ भी नहीं।

पूजा प्रत्येक जीवित आत्मा का अभिन्न अंग है, और कर्त्तव्य भी। मान लीजिए, वह अवस्था निकल जाये तो इसके समान अन्य कर्त्तव्य आ जाता है। संक्षेप में, प्रकृति जीवित आत्मा या सामान्य रूप में मनुष्य को किसी काम में लगाये रखना चाहती है। प्रकृति संसार का यथेच्छ रूप विकसित हो जाने पर परिश्रान्त हो जाती है। सन्तुलन बनाये रखने के लिए आत्मा की गतिशीलता द्वारा सक्रियता हमेशा

बनी रहती है। जब मनुष्य प्रकृति से मिलती-जुलती परिश्रान्त (मन्द) अवस्था में पहुँच जाता है तब वह दूसरों के लिए वही सक्रियता उत्पन्न कर देता है। वह प्रकृति का एक यन्त्र (मशीन) बन जाता है; और अपने उपयुक्त स्थान पर लगा दिया जाता है। मनुष्य द्वारा अर्जित हैसियत के अनुसार मशीनरी (यन्त्र) पर किसी सीमा तक प्रकृति की शक्ति निःसंदेह अवस्थित हो जाती है। यह क्षमता कहाँ से आ जाती है और कैसे पैदा की जाती है ? यह हैसियत (क्षमता) आवश्यकतानुसार उसकी सक्रियता (अर्थात् उपयुक्त रूप और क्रम में काम करने) का परिणाम होती है। यह बात किसी मनुष्य की आदतों में सन्तुलन (moderation) आने से पैदा होती है। ऐसा प्रकृति के नियमों का पालन करने से होता है। जो कोई प्रकृति के नियमों का अनुसरण करता है उसे वैधिक सहायता प्राप्त होती है। जो कोई उस सीमा तक पहुँच जाता है, जहाँ पर इन नियमों का स्रोत है, उसे केन्द्र से सीधे सुनिश्चित सहायता प्राप्त होती है। किन्तु जब तक मनुष्य प्रकृति के नियमों का अनुसरण नहीं करता उसे वैधिक विभाग से चिह्नित रेखा (सीमा) तक पहुँचने का अवसर यदा-कदा मिल जाता है। अतः हम सभी को प्रकृति के साथ ही साथ चलना चाहिए। हम जो मार्ग अपना रहे हैं उसमें प्रगति के निमित्त हमें प्रकृति से सहायता लेनी चाहिए, अथवा उस व्यक्ति से जो प्रकृति से सहायता ले रहा है।

आप ने सूचना संचारित की है कि आप मेरी कमी का सर्वाधिक अनुभव कर रहे हैं। यह ठीक है कि आप मेरे स्थूल शरीर का अभाव अनुभव कर रहे हैं, किन्तु यदि आप गहराई में जायें तो मुझे हर जगह पायेंगे। जब आप जीवन की वर्तमान अवस्था के अभ्यस्त हो जाओगे तो घर पहुँच पाने की वेदना शीघ्र विलीन हो जायेगी; अथवा यदि आप मुझको सदैव अपने साथ समझें तो भावना पर काफी अधिक नियन्त्रण हो जायेगा। दक्षिण भारत की अपनी यात्रा के दिन मुझे याद आते हैं, जब मैं अपने स्वामी और प्रभु को सदैव अपने अन्दर साथी के रूप में बातें करते पाता था। यद्यपि उन्हें पार्थिव (भौतिक) रूप में नहीं देख

सकता था; किन्तु अपने को एक ऐसे अन्धे मनुष्य की स्थिति में समझ लेता था जो अपने साथी का चेहरा नहीं देख सकता, किन्तु परस्पर बातचीत में समय को बहला-फुसला सकता था। चूँकि आप अभी पूर्णता की अवस्था तक नहीं पहुँचे हैं, फिर भी आप कम से कम उपस्थिति का अनुभव कर सकते हैं। आप को परमात्मा का आशीर्वाद प्राप्त हो और आप को उससे अधिक आध्यात्मिक उन्नति की निधि प्राप्त हो जिस में कि मैं स्थित हूँ।

●●●

मन्मत और गुरुमत शिष्य

(बसन्त पञ्चमी, १९९३)

जीवित गुरु का महत्त्व अवश्य है; लेकिन जो बात महत्त्व की है, वह जिन्दा होना नहीं, बल्कि गुरु होना यानी सद्गुरु और समर्थ सद्गुरु होते जाना, न कि ज़िन्दा रहते हुए गुरु के रुतबे से लगातार नीचे गिरते जाना ! अब, इस विषय में उन्नति या अवनति का आधार और आश्रय किस पर है ? खुद पर यक़ीन रखने वाले को यही कहना शोभा देता है कि खुद पर, और अपने समर्थ सद्गुरु पर यक़ीन रखने वाला तो यही कहे और मानेगा कि उसके समर्थ सद्गुरु पर ! अब, ख़ुद पर यक़ीन रखने वाले और अपने समर्थ सद्गुरु पर यक़ीन रखने वाले में फ़र्क क्या है ? आम तौर पर यह दोनों तरह के लोग ज़ाहिरा एक ही जैसी बात कहेंगे; लेकिन खुद पर यक़ीन रखने वाले का यक़ीने-बातिन (आन्तरिक हार्दिक विश्वास) यह होता है कि उसकी अपनी क़ाबिलियत की वजह से उसने अपने समर्थ सद्गुरु की ज़िन्दगी में ही उनसे, उनकी ज़िन्दगी के बाद ज़िन्दा गुरु होने का रुतबा हासिल कर लिया, जब कि दूसरे लोग इस दौड़ में पीछे रह गये। समर्थ सद्गुरु पर यक़ीन रखने वाला अपनी क़ाबिलियत को कभी महत्त्व नहीं देता, और हर बात अपने समर्थ सद्गुरु की कृपा पर निर्भर समझता है, जो कि हक़ीक़त है।

क़ाबिलियत कुछ न कुछ सभी में होती है; लेकिन अगर वही काफ़ी होती, तो कृपा की ज़रूरत ही क्यों होती ? कहा जायेगा कि समर्थ सद्गुरु की कृपा की धारा की दिशा अपनी तरफ़ मोड़ने की भी एक क़ाबिलियत होती है। यह बात सही है। लेकिन ऐसी ख़ास क़ाबिलियत (विशिष्ट योग्यता) का मिज़ाज (स्वभाव) और मेऽआर (मापदण्ड) क्या है ? खुद पर यक़ीन रखने वाला इस विशिष्ट योग्यता

को भी अपनी क़ाबिलियत और होशियारी से मन्सूब (सम्बद्ध) करता है, और दूसरों को इस विषय में अपने से तुच्छ मानता और बताता है। समर्थ सद्गुरु पर यक़ीन रखने वाला इस बात को भी अपने समर्थ सद्गुरु की हर तरह से आज़ाद कृपा से ही सम्बद्ध करता है; और अपनी किसी भी प्रकार की विशिष्ट योग्यता का भार अपने समर्थ सद्गुरु की कृपा की निरपेक्ष (शर्त-रहित) स्वतन्त्रता पर आयद (लागू) नहीं करता। अब आप ख़ुद ही देख लें कि समर्थ सद्गुरु की कृपा (फ़ैज़) की धारा की दिशा अपनी ओर मोड़ने का तरीक़ा क्या है और क्या हो सकता है ? ख़ुद को महत्त्व देने वाला, समर्थ सद्गुरु को महत्त्व दे नहीं सकता; और अपने समर्थ सद्गुरु को महत्त्व देने वाला, ख़ुद अपने महत्त्व को मान और जान नहीं सकता। सच तो यह है कि ख़ुद को महत्त्व देने वाला, अपने को भी महत्त्व प्रदान करने का दावा करता है, और धीरे-धीरे अपना सारा महत्त्व गँवा देता है। अपने समर्थ सद्गुरु का महत्त्व जानने-मानने वाले को समर्थ सद्गुरु महत्त्व देता है, और ख़ुद के महत्त्व की चिन्ता और परवाह की आवश्यकता से मुक्त हो जाता है। यह बहुत छोटा सा अन्तर है, जो अन्ततः बहुत बड़ा फ़र्क़ साबित होता है।

मन्मत और गुरुमत शिष्य का शास्त्रों में बताया गया फ़र्क़ काफ़ी मशहूर है, जिसकी तशरीह (व्याख्या) व तलमीह (प्रकरण-व्यवस्था) के तौर पर बहुत कुछ कहा गया है और कहा जा सकता है। मोटे तौर पर यह फ़र्क़ ख़ुद के या गुरु के मत यानी राय या फ़ैसले के अनुसार काम करने के बारे में है; लेकिन बिलाख़िर (अन्ततः) इसका सम्बन्ध ख़ुद पर या गुरु पर यक़ीन होने के फ़र्क़ से ही है। यक़ीन (श्रद्धा) चाल-चलन, रहन-सहन, काम-काज वग़ैरह की बुनियाद (नींव) है। आदमी की अपनी शख़्सियत (व्यक्तित्व), क़ाबिलियत और मर्ज़ी बेशक ज़रूरी है; लेकिन अगर वह काफ़ी हो, तो फिर गुरु आदि की तलाश की ज़रूरत ही क्यों हो ? दरअसल रूहानियत (अध्यात्म) और उसके आगे जो कुछ भी है, उसका सारा राज़ (रहस्य) इस एक सवाल के जवाब में पिनहाँ (समाविष्ट) है।

ख़ुद की शख़्सियत और क़ाबिलियत इन्सानी फ़र्दियत (मानवीय

वैयक्तिकता) का ख़ास्सा (वैशिष्ट्य) है। इसके बग़ैर इन्सान और हैवान (पशु) का फ़र्क़ ख़त्म हो जायेगा। यूँ तो आत्मा और परमात्मा सभी में है; लेकिन रूहानियत के मेऽआर (अध्यात्म के मानदण्ड) के हुसूल (लाभ) की अहलियत (पात्रता) से कुदरत (प्रकृति) ने इन्सान (मानव) को ही सरफ़राज़ (गौरवान्वित) किया है। मनुष्य से नीचे के मदारिज (श्रेणियों) पर रूहानी हुसूल (आध्यात्मिक उपलब्धि) के लिए अभ्यास आदि की गुञ्जायश (सम्भावना) नहीं। अब यह ज़रूर है कि बहुत से इन्सान भी अपनी इस आला अहलियत (श्रेष्ठ पात्रता) की अहमियत (महत्त्व) से ना-आश्ना (अपरिचित) रहते हैं; और उनकी शख़्सियत और क़ाबिलियत से सम्बन्धित सारी दौड़ धूप उनकी हैवानी ज़रूरियात (पाशविक आवश्यकताओं) की तकमील (परिपूर्णता) तक महदूद (सीमित) रहती है। यह भी निज़ामे-कुदरत (प्रकृति की व्यवस्था) के ही तहत (अन्तर्गत) होता है। ज़्यादातर बनी नौऽ-ए-इन्सान (मानव जाति) की तख़्लीक़ (सृजन व्यापार) और परवरिश (पोषण) वग़ैरह के तरद्दुद (चिन्ता एवं प्रयास) को निज़ामे-कुदरत (प्रकृति की व्यवस्था) में फ़ौक़ियत (वरीयता) हासिल है। इसी वजह से अक्सर (बहुधा) इन्सान रूहानियत और उसके आगे के हुसूल (उपलब्धियों) के लिए राग़िब (उत्सुक) नहीं होते, और काफ़ी देर से उधर मायल (उन्मुख) होते हैं। यही वजह है कि कभी कहीं कुछ नीचे के समाजी तबक़ों (सामाजिक श्रेणियों) के इन्सान, बल्कि कुल तबक़-ए-मस्तूरात (सम्पूर्ण नारी वर्ग) तक को रूहानी और उसके आगे के हुसूल का ना-अहल (अपात्र) कहा जाने लगा है। इस मामले में सच्चाई सिर्फ़ इतनी है कि एक नज़रिये (दृष्टिकोण) से निज़ामे-कुदरत में हैवानी ज़रूरियात की तकमील (परिपूर्णता) को अमूमन (सामान्यतः) फ़ौक़ियत (वरीयता) हासिल (प्राप्त) है; और यह रवैया ग़लत यूँ है कि निज़ामे-कुदरत में बिला तफ़रीक़ (बिना भेदभाव) कुल बनी नौऽ-ए-इन्सान (सम्पूर्ण मानव जाति) को रूहानी और उसके आगे के हुसूल व तकमील की आला अहलियत (लाभ और परिपूर्णता की श्रेष्ठ पात्रता) से आरास्ता (अलंकृत) किया गया है। इस अहलियत की तकमील की जानिब (ओर) प्रयत्न और अभ्यास के लिए मानव जाति के हर व्यक्ति (स्त्री-पुरूष) को

आज़ादी अता (प्रदान) की गई है।

अब मानव जाति के दायरे (वृत्त) में ज़िन्दगी की बुनियादी ज़रूरियात (जीवन की मूल आवश्यकताओं) की पूर्ति और उपलब्धि को अपने व्यक्तित्व (शख़्सियत) और योग्यता (क़ाबिलियत) के इस्तेमाल की हद समझने वाला मनुष्य अपनी ज़िन्दगी, रूहानियत, बल्कि खुदाई (दैवी एवं परमात्मा-विषयक क्षमता) तक को दुनियावी हैवानी ज़रूरियात (साँसारिक पाशविक आवश्यकताओं) की तकमील (सम्पूर्ति) का आल-ए-कार (उपकरण) और ज़रिय-ए-महज़ (मात्र-साधन) बनाना चाहता है। इतना ही नहीं, उसकी नज़र में पैदा होने, खाने पीने, शादी करने, बच्चे जनने और फिर मर जाने की अमारत (सम्पन्नता) ही, उसकी क़ाबिलियत और शख़्सियत के निखार की हद बन जाती है। वह आत्मा, गुरु, यहाँ तक कि खुदा तक का उपयोग (इस्तेमाल) अपनी उसी हैवानियत के दर्जे की ख़ुदी (अहंता) के हुसूल व तकमील (लाभ एवं पूर्ति) के लिए करना चाहता है और करता है। होश सम्हलते-सम्हलते काफ़ी देर हो चुकती है। इन्हीं हुदूद में मुन्तशिर खुद-बीनी (सीमाओं में बिखरी आत्म-केन्द्रित दृष्टि) उसे ख़ुद-शिनासी (आत्म-परिचय) की मुख़्तलिफ़ सिम्त (विपरीत दिशा) में गामज़न करती (दौड़ाती) है; और खुदा-रसाई (परमात्मा तक पहुँच) का मौक़ा (अवसर) मौकूफ़ (अवरुद्ध) हो जाता है। ख़ुद को अहमियत देने वाला यह मन्मत शार्गिद (शिष्य) अपने गुरु की ज़िन्दगी के बाद ख़ुद ज़िन्दा गुरु बनने की धुन व फ़िक्र में अपने गुरु के मरने का इन्तज़ार (प्रतीक्षा) करने लग जाता है। कोई ताज्जुब नहीं अगर वह खुदा (ईश्वर) के ख़ात्मे (समाप्त होने) का भी दावा पेश (प्रस्तुत) करे ताकि वह उसकी जगह अपनी ख़ुदी (अहंता) के क़याम (प्रतिष्ठापन) की कोशिश कर सके !

दूसरी तरफ़ अपनी हैवानियत (पाशविकता) और हयात (ज़िन्दगी) के हुदूद (सीमाओं) की पहचान, ख़ुद-शिनासी (आत्म-परिचय) और ख़ुदा-परस्ती (परमात्म-पूजन) के तईं (प्रति) रग़बत (उत्सुकता, शौक़) पैदा करती है; और अपनी कमी का अहसास (अनुभव) अपने से

बालातर (श्रेष्ठतर) शख्सियत (व्यक्तित्व) यानी गुरु की तलाश तेज़ करता है। गुरु की हर क़दम पर अहमियत में मस्त यह गुरुमत शागिर्द (शिष्य) लगातार (निरन्तर) रूहानियत (अध्यात्म) और उसके आगे मञ्ज़िल-दर-मञ्ज़िल (गन्तव्य पर गन्तव्य) तजावज़ (पार) करता हुआ, हमेशा (सदैव) गुरु को ज़िन्दा जावेद (शाश्वत रूप से जीवित) रखते हुए, अपनी ख़ुदी (अहंता) को ख़ैर-बाद कहता हुआ, गुरु, समर्थ सद्गुरु, आदि के मदारिज (श्रेणियों) से गुज़रता हुआ, पीर-दस्तगीर (हाथ थामने वाले गुरु) की दवाम बख़्शिस के सहारे, मरने को लगातार बेचैन (आतुर) रह कर ऐसी दायमी हयात (शाश्वत ज़िन्दगी) हासिल करता है, जो रूहानियत की राह (अध्यात्म के मार्ग) का हुसूले-महज़ (मात्र-उपलब्धि) है। यह सींक की ओट पहाड़ का मज़मून (विषय) जिसका नसीब (भाग्य) हो, और जिसकी बख़्शिस (दान या देन) हो, वही इस राज़ (रहस्य) के हक़दार (अधिकारी) और राज़दार (रहस्य को धारण करने वाले) हैं और रहें !

●●●

श्रेष्ठतम शिष्य

(३० अप्रैल, १९९३)

शागिर्द (शिष्य) की शान इसमें है कि उस को अपने गुरु के अलावा और कोई कहीं अपना दिखाई नहीं देता; और जब यह बात पैदा हो जाती है तो गुरु के लिए शागिर्द के अलावा (अतिरिक्त) और कोई कहीं अपना नहीं रह जाता।

'न आशिक़ आँ कि जुज़ माशूक़ बीनद।
न माशूक आँ कि जुज वै दर जहान् अस्त।।'

(न तो वह व्यक्ति प्रेमी है जो कि प्रेमपात्र के अतिरिक्त भी किसी को देखता हो; और न ही वह व्यक्ति प्रेमपात्र है कि जिसके अतिरिक्त भी संसार में कोई अन्य शेष हो।)

आलातरीन शागिर्द (श्रेष्ठतम शिष्य) के लिए उसके पीर-दस्तगीर (हाथ थामने वाले समर्थ सद्गुरु) का दर्जा माशूक (प्रेम-पात्र) का होता है, जिसका आला तरीन, मेऽआर (श्रेष्ठतम मापदण्ड) हासिल होने का नतीजा (परिणाम) यह होता है कि उस यकता शागिर्द (एकाकी श्रेष्ठ शिष्य) का दर्जा उसके पीर-व-मुर्शिद (समर्थ सद्गुरु) के नज़दीक माशूक का हो जाता है। गोया (यों कहें कि), एक तरह से दोनों की जगहें और मदारिज (दर्जे/श्रेणियाँ) एक दूसरें में (परस्पर) बदल जाते हैं; बल्कि यूँ कहें कि पेवस्त (अन्तर्निहित) हो जाते हैं; जिसको यूँ भी कहा जा सकता है कि दो होते हुए भी दर्जा या जगह एक ही रह जाती है।

अब लोग जानना और पूछना चाहेंगे कि ऐसा होता कैसे है, और इसके लिए करना क्या होता है ! जवाब तो काफी पहले दे चुका हूँ कि "तुम्हें कुछ भी नहीं करना है। सिर्फ जो कुछ भी करते रहे हो

(भले ही उसका पता न हो) बस वही करते रह सकते हो।''

आशिक़-माशूक़ का खेल दुनिया में कौन नहीं खेलता, बल्कि बारहा (बहुत बार) जाने कितनी-कितनी बार ? अब ज़रूरत सिर्फ़ यह बाक़ी (शेष) रहती है कि इसकी हैसियत खेल की ही न रह कर हक़ीक़त (यथार्थता) और असलियत (वास्तविकता) बन जाये, भले ही इसका आग़ाज़ (आरम्भ) खेल की ही तरह क्यों न हुआ हो !

लोग फिर पूछ सकते हैं, और जानना चाहेंगे कि इश्क (प्रेम) के बारे में खेल और असलियत का फ़र्क़ (अन्तर) क्या है ? जवाब (उत्तर) बहुत छोटा दिया जा सकता है कि खेल जब तक खेल यानी दिल-बहलाव है, वह असलियत नहीं; और असलियत के मुआमले में खेल की ज़रूरत नहीं रह जाती। मिसालें (उदाहरण) हर बात की वज़ाहत (व्याख्या/स्पष्टीकरण) के लिए हर जगह मौजूद हैं। लेकिन जिनको सवाल-जवाब की लत लग जाती है, और जिसको इसके ज़रिये (द्वारा) अपनी क़ाबिलियत का इज़हार (योग्यता प्रकट/प्रदर्शित करना) मक़सूद (उद्दिष्ट) हो जाता है, वह समझना और जानना चाहते ही कब हैं ? मतलब यह नहीं कि सवाल पूछने में बज़ाते-ख़ुद (अपने आप में) कोई ऐब (दोष) है। लेकिन सवाल करना और न करना दोनों ही समझने और जानने के लिए हो सकते हैं, और अपनी क़ाबिलियत या बेवकूफ़ी (मूर्खता) की नुमायश (प्रदर्शनी) की ग़रज़ (इच्छा) से भी। अब सवाल पूछने या न पूछने की असल ग़रज़ क्या है, यह तो हर सवाल पूछने या न पूछने वाले को उसके दिल में आशकार (स्पष्ट) रहता ही है। इसे किसी से पूछने जानने की ज़रूरत नहीं होती; हालाँकि जिस से सवाल पूछा जाता है या नहीं पूछा जाता, उसे भी इसका पता अक्सर (बहुधा) हो ही जाता है।

अब इश्क़ के बारे में सभी जानते हैं, और दूसरों को बताते हैं कि यह इल्म यानी ज्ञान का नहीं बल्कि जज़्बा (भावना) और दिल के लगाव यानी भक्ति का मौज़ूअ (विषय) होता है। लिहाज़ा (अतएव) इसके बारे में खेल और असलियत का फ़र्क़ हर किसी को अपने दिल में पता हो जाता है, और किसी से पूछने या जानने की ज़रूरत नहीं

रह जाती। लेकिन फिर भी कितना अजीब (विचित्र) है कि हर शख़्स (व्यक्ति) यानी कस-व-नाकस (जैसा तैसा कोई भी) अपने गुरु से, बल्कि सिर्फ़ उस से मुहब्बत का दम भरता है—हत्ताकि (यहाँ तक कि) हर किसी को इस अमर (बात) में अपने से हक़ीर (तुच्छ) समझता और मानता है; जबकि महज़ (केवल) खेल के बजाय (स्थान पर) असलियत इस बारे में किसी बिरले का नसीब (भाग्य) होती है, जो हज़ारों लाखों में बल्कि हज़ारों साल बाद कहीं बा-वजूद (अस्तित्ववान) होता है, जबकि यह जरूरी नहीं कि इश्क़-व-मुहब्बत की असलियत हर किसी का नसीब न हो सके।

बात क्या है ! सिर्फ़ यह कि मुहब्बत की एक ही पहचान है—ख़ुद-फ़रामोशी (आत्म-विस्मृति) ! मुहब्बत का दम भरने वाले यह दावा (स्वत्वाधिकार घोषणा) तो करते हैं कि उनके महबूब जैसा कहीं कोई नहीं ! लेकिन यह कहने में उनका मतलब (अभिप्राय) यही होता है कि उनके जैसा कोई और (अन्य) नहीं ! गोया उनके महबूब (प्रेमपात्र) की बरतरी (श्रेष्ठता) यही है कि वह उन का महबूब है। ऐसी हालत (स्थिति) में, ज़ाहिर (सुस्पष्ट) है कि वह अपने गुरु यानी महबूब की अज़मत (उच्चता/बड़प्पन) क़ायम (स्थापित) और आशकार (प्रकाशित) करने में लगे रहने का खेल, अपनी खुद (स्वयं) की अज़मत को क़ायम और आशकार करने की ग़रज़ से लगातार खेलते हैं। ख़ुद-फ़रामोशी से उन्हें क्या मतलब ? खुद को ही वह अगर फ़रामोश (विस्मृत) कर बैठे, तो भला वह अपने महबूब यानी गुरु की अज़मत कैसे क़ायम और आशकार कर सकेंगे ? गुरु, खुदा, पैग़म्बर, अवतार वग़ैरह के पुरज़ोर आशिक़ों (शक्तिशाली प्रेमियों) से कोई पूछे कि आप की वजह से आपके महबूब की अज़मत है, या इसके उल्टा, तो वह शायद यही कहें कि माशूक की अज़मत तो सिर्फ़ (केवल) यह है कि उन्हों ने उसे माशूक़ तसलीम (स्वीकार) किया !

तो फिर, आशिक़ी की असलियत का इन तजकिरों (विवरण-संदर्भों) से क्या सरोकार (लेना-देना) ! अगर आपका महबूब आपकी खुदी (अहम्मन्यता) की फ़र्माबरदारी (आज्ञानुवर्तन) से ही आज़ाद (स्वतन्त्र) न रह सका, तो आप दूसरों के मुक़ाबले (समक्ष) उस की अज़मत कैसे

क़ायम और आशकार कर सकते हैं ? यह तो वही बात हुई कि 'ख़ुद मियाँ फ़ज़ीहत; दूसरों को नसीहत' (स्वयं श्रीमान् सर्वथा भ्रष्ट; दूसरों को देते उपदेश)। अगर आप बेचारे गुरु को अपनी मर्ज़ी के तहत (इच्छानुसार) हाँका जाने वाला गोरू (पालतू पशु) बना रहे हैं, तो फिर उसके पास आपको अपना माशूक़ बना सकने की आज़ादी कहाँ रह गई ? वह तो आप का आपकी मर्ज़ी के मुताबिक (अनुसार) माशूक़, यानी यह या वह रिश्ते (सम्बन्ध) वाला होने की वजह से आप का आशिक़ होने को मजबूर (विवश) है। तो वह अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ आप को माशूक़, या जो कुछ वह चाहे, कैसे बना सकता है ? यह बात साफ़ (स्पष्ट) है, जो उन लोगों के पल्ले कैसे पड़ सकती है, जिनके लिए कहा गया है कि 'आँख के अन्धे और नाम नयन-सुख' ?

मुमकिन है, लोगों को पता हो गया हो कि आशिक़ी का दम भरने वालों की जमात (कक्षा/श्रेणी) को वह ख़ुसरुवी (सुन्दरता) क्यों नहीं नसीब हो पाती, जो महबूबे-मुतलक़ (परमपूर्ण प्रेम पात्र) की तरफ से सबको मयस्सर (प्राप्त) होते हुए भी सिर्फ़ किसी एक को ही मिलती है, जिसको उसका महबूब ख़ुद (स्वयं) इसके लिए मुन्तख़ब (वरण) कर ले। इश्क़ तो माशूक़ का अतीया (उपहार/भेंट/अर्पण) है, न कि आशिक़ का हक़ (अधिकार)। माशूक़ जिसका इन्तख़ाब (चुनाव/वरण) बतौर अपने आशिक़ के करता है, उसी को उस का ऐसा महबूब होने का शरफ़ (सम्मान) हासिल होता है कि उस के अलावा (अतिरिक्त) भी कोई और (अन्य) दुनिया में बाक़ी (शेष) नहीं रह जाता। यह इन्तखाबे-मुतलक (परमपूर्ण-वरण) किसी बात का पाबन्द (अधीन/आश्रित) नहीं, और किसी शख़्स का मोहताज (मुखापेक्षी/निर्भर) नहीं। इस तरह (प्रकार) के इन्तख़ाब की अहलियत (पात्रता) की शर्तें (अनुयोग/प्रतिबन्ध/अपेक्षाएँ) ज़रूर होती हैं, लेकिन वह भी किसी की पाबन्द या मोहताज नहीं।

मुख़्तसर (संक्षेपतः) सिर्फ़ यह कहा जा सकता है कि वह हमेशा मौजूद है, लेकिन तभी जब आप मौजूद न हों। ख़ुद का गुम हो जाना ही उस आशिक़ की पहचान है जो माशूक़ के अलावा कहीं किसी को

अपना नहीं देखता; जिसका नतीजा (परिणाम) यह होता है कि उस के महबूब की हैसियत (स्थिति) उस आशिक़ की हो जाती है, जिसके लिए माशूक़ के अलावा कहीं कुछ बाक़ी नहीं रह जाता। यह ख़ुश-क़िस्मती (सौभाग्य) इस रास्ते (मार्ग) के रहर वों (यात्रियों) को हमेशा (सदैव) मयस्सर (उपलब्ध) रही है, भले ही कभी ऐसे आशिक़ और माशूक़ के दरमियान (बीच) सदियों (शताब्दियों) का फ़ासला (दूरी) हायल हुआ हो (उन्हें एक दूसरे से पृथक् किया हो)। यह जरूरी (आवश्यक) क़तई (कदापि) नहीं कि इस तरह की कोई भी शर्त महबूबे-क़ादिर (सर्व शक्तिमान् प्रियतम) के इन्तख़ाबे मुतलक़ (नितान्त निरपेक्ष वरण) पर आयद (लागू) हो। कुदरत (प्रकृति) के दायरे (वृत्त) में किसी भी वाक़ये (घटना) की शरायत (आवश्यक परिस्थितियाँ या घटक) पूरे होते ही उस का वाक़ै (घटित) होना लाज़िम (अनिवार्य) है; और क़ादिरे-मुतलक़ (नितान्त निरपेक्षतः सर्व शक्तिमान्) पर किसी क़ानून (विधान) की पाबन्दी (प्रतिबन्ध) आयद (लागू) नहीं। इस अमर (विषय) में कुल हक़ीक़त (सम्पूर्ण यथार्थता) की यही तशरीह (व्याख्या) है।

●●●

आध्यात्मिक हालत

(बसन्त पञ्चमी, १९९४)

पूजा के बाद लोगों से उनकी हालत के बारे में पूछने पर अक्सर यह सुनने को मिलता है कि उन्हें कुछ भी महसूस (अनुभव) नहीं होता। अब पहली बात इस बारे में यही है कि आख़िर यह भी एक एहसास (अनुभव) है कि कुछ महसूस नहीं हुआ, बल्कि यह भी कि कुछ भी महसूस नहीं होता। अगर मैं कहूँ कि यह कुछ न महसूस होने की हालत रूहानियत (आध्यात्मिकता) की आलातरीन (श्रेष्ठतम) कैफ़ियत (हालत) है, तो लोग इसकी तशरीह (व्याख्या) की माँग ज़रूर करेंगे, अगर वह सचमुच इस इल्म (विद्या) के मुस्तहक़ अहल (अधिकारी पात्र) हों।

हम एक मोटी मिसाल (स्थूल उदाहरण) लें। आप घर से निकले, और आप के पैर में काँटा चुभ गया, या मान लीजिए कोई हादसा (दुर्घटना) हो गया, जिसमें आपको काफी चोट लग गयी। तो ऐसी हालत में आपके पास अपना एहसास बताने को बहुत कुछ होगा। काँटा निकाला जाते समय या चोट ठीक होने में भी बताने लायक़ बहुत से एहसासात होंगे; लेकिन काँटा निकल जाने और चोट ठीक हो जाने पर आप यही कहेंगे कि अब तो कुछ भी महसूस नहीं होता। बहुत पूछने पर ज़्यादा से ज़्यादा इतना ही कहेंगे कि अब कोई तकलीफ़ नहीं है। यह भी उसी सूरत (स्थिति) में कह सकेंगे जब कि पहले की तकलीफ़ वाली हालत की याद बाक़ी (शेष) हो।

यह मिसाल जिस्मानी (शारीरिक) तकलीफ़ और आराम की है। लेकिन इन्सान का वजूद (अस्तित्व) जिस्म से आगे यानी नफ़ीस (सूक्ष्म) और नफ़ीसतर शक्ल में जाने कहाँ तक फैला हुआ है। आराम की बनिस्बत (तुलना में) तकलीफ़ की हालत में एहसास तेज़ (तीव्र)

और नुमायाँ (स्पष्ट) होता है; और तकलीफ़ से निजात (मुक्ति) की सूरत में भी बताने लायक़ एहसास रहता है। लेकिन आराम से निजात की सूरत में जो आराम पैदा होता है वह लगातार बैरूँ-अज़-हद्दे-बयान (वर्णन की सीमा से बाहर) होता जाता है। इस बात की वज़ाहत (स्पष्टीकरण) यहीं शुरू हो गई कि तकलीफ से निजात के लिए लफ्ज़ (शब्द) 'आराम' इस्तेमाल (प्रयोग) किया जाता है; लेकिन आराम से भी निजात कही जाये तो उसके लिए भी 'आराम' लफ्ज़ ही इस्तेमाल करना पड़ता है, जिसका मतलब अमूमन (सामान्यतः) यह भी समझा जायेगा कि तकलीफ़ से निजात की हालत में जो आराम है वह भी एक तरह की तकलीफ़ ही है, जिससे निजात ज़्यादा नफ़ीस आराम पैदा करती है। और यह सिलसिला (क्रम) बढ़ता ही जाता है, जिसके लिए आराम से भी आराम और फिर उससे भी आराम वग़ैरह (इत्यादि) कहना पड़ता है। और जब जिस्मानी तकलीफ़ और आराम से आगे बढ़ कर दिली (हार्दिक), दिमाग़ी (बौद्धिक), रूहानी (आध्यात्मिक) वग़ैरह तकलीफ़ और आराम का जिक्र (उल्लेख) आता है तो महसूस करने और उसको बताने की दिक़्क़त (कठिनाई) तो होगी ही !

काँटा चुभने के दर्द के एहसास के बारे में आगे की कहानी पर ग़ौर करें (ध्यान दें), तो बहुत सी हालतें ऐसी हैं जिनमें काँटा चुभने पर भी दर्द का एहसास नहीं होता, या उसका बयान (बताना) मुमकिन (सम्भव) नहीं होता। आदमी के अलावा (अतिरिक्त) जानवरों (पशुओं) को भी काँटा चुभता है, लेकिन कहीं तो उसका एहसास ही नहीं होता, और कहीं उस एहसास का इज़हार (अभिव्यक्ति) नहीं होता। आदमी के अभी पैदा हुए बच्चे का भी कुछ ऐसा ही हाल होता है। बड़ा हो जाने पर भी दवा के ज़रिये (द्वारा) या कई और तरह से भी उस जिस्म के हिस्से (भाग) को बे-हिस (संवेदन-शून्य) कर दिया जा सकता है और दिमाग़ (मस्तिष्क) के ख़ास हिस्से (विशेष भाग) के मुन्क़ता (विच्छिन्न) या बेकार (निष्क्रिय) हो जाने की सूरत में भी दर्द का एहसास या बयान (बखान) ख़त्म (समाप्त) हो जाता है। इस तरह की तमाम मिसालें आम इन्सानी एहसास (सामान्य मानवीय अनुभूति) से नीचे दर्जे (निम्न कोटि) की हैं।

अब कुछ मिसालें ऐसी भी हैं जिन्हें आला दर्जे की कैफ़ियत कहा जा सकता है। मुहब्बत (प्रेम) यानी दिल का लगाव – ख़्वाह (चाहे) वह मजाज़ी (साँसारिक) हो या हक़ीक़ी (परमात्म परक) – जितना ही तेज़ होता है जिस्मानी दर्द के एहसास और इज़हार (अभिव्यक्ति) को उतना ही कम कर देता है; बल्कि एक हद से आगे और ऊपर दिल और दिमाग़ का उन्स (लगाव) बड़े से बड़े जिस्मानी एहसास को ख़त्म कर देता है। एक बड़े साइंस-दाँ (विज्ञानवेत्ता) का क़िस्सा मशहूर (प्रसिद्ध) है कि वह अपने काम में इतना मशगूल (संलग्न, खोया हुआ) था कि उसका खाना उसका कुत्ता खा गया; और शाम को नौकर से पूछने पर जब उसे बताया गया कि उसने खाना खाया था और ख़ाली बर्तन नौकर वापस ले गया था, तो उस ने यही समझा कि वह बेख़याली (आत्म विस्मृति) की हालत में खाना खा कर भी भूल गया था। इसे कोई ऊँचे पाये (कोटि) की कैफ़ियत कहे या नीचे पाये की, मगर इन्सानी एहसास की सतह (तल) पर यह क़िस्सा सच ज़रूर है।

तो फिर उस आला दर्जे की रूहानी कैफ़ियत का अन्दाज़ा (अनुमान) आप कर सकते हैं कि जहाँ कोई एहसास या उस की याद बाक़ी नहीं रहती; बल्कि मुमकिन है उसकी मिसाल आपने ख़ुद (स्वयं) भी कभी महसूस की हो और उसको आला दर्जे के एहसास की तरह याद रखने के लिए कहीं दर्ज (नोट) किया हो, या फिर इस बेख़याली की कैफ़ियत को दिल व दिमाग़ की मुज़िर (हानि कारक) बीमारी समझ कर परेशान हों। दरअसल (वास्तव में) अच्छा, बुरा, सही, ग़लत आमतौर पर लोग ज़ाती मुफ़ाद (व्यक्तिगत लाभ) की बिना (आधार) पर तै करते हैं।

सवाल उठाया जा सकता है कि आख़िरकार (अन्ततोगत्वा) ज़ाती मुफ़ाद का पैमाना (मापदण्ड) क्या है ? भूखा शख़्स (व्यक्ति) खाने को अपना ज़ाती मुफ़ाद समझता है, लेकिन साइंस-दाँ अपने काम की धुन में अपनी भूख भूल गया। यहाँ कह सकते हैं कि ज़िस्मानी मुफ़ाद (शारीरिक लाभ) के मुक़ाबिल (समक्ष) दिमाग़ी मुफ़ाद (बौद्धिक लाभ) को तरजीह (वरीयता) हासिल (प्राप्त) है। इस साइंस-दाँ का ही क़िस्सा है कि उसके कुत्ते ने उसकी मेज़ पर रखा लैम्प उलट

दिया और तक़रीबन (लगभग) बीस साल की मेहनत ज़रा सी देर में जल कर ख़ाक (राख) हो गई। बताया गया है कि साइंस-दाँ ने कुत्ते को थपथपा दिया और सिर्फ़ (केवल) इतना ही कहा कि 'तुम नहीं जानते कि तुमने कितना बड़ा नुक़सान (हानि) कर डाला।' इसी लहजे (स्वरोदय) में बताया गया है कि हज़रत ईसा ने अपने क़ातिलों (हत्यारों) के लिए दुआ (प्रार्थना) की थी कि 'ऐ खुदा (हे ईश्वर) उन्हें मुआफ़ (क्षमा) कर दो, क्योंकि वह नहीं जानते कि उन्होंने कितना बड़ा पाप किया है।' यहाँ रूहानी मुफ़ाद (आध्यात्मिक लाभ) के सामने दिल और दिमाग़ का मुफ़ाद भी हल्का साबित (सिद्ध) हुआ। इस तरह आगे और आगे बढ़ते जा सकते हैं यानी बालातर (उच्चतर) एहसास के पैदा होने पर नीचे दर्जे का एहसास हल्का पड़ जाता है; और जिसे बालातर और नफ़ीस पाये (सूक्ष्म स्तर) के एहसास की पहचान नहीं हो पाती, वह यही कहता है कि कुछ भी महसूस नहीं होता।

इस पैराए (विषय) में आख़िरी (अन्तिम) बात यह है कि सहज मार्ग की पूजा में शुरू (आरम्भ) की कुछ न महसूस होने की हालत और आलातरीन (उच्चतम) कुछ न महसूस करने की हालत में ज़मीन आसमान (पृथ्वी-आकाश) का फ़र्क़ (अन्तर) है। शुरू में ज़िस्मानी (शारीरिक) और मादी (भौतिक) ख़्वाहिशात (इच्छाओं) से हम-आहंग ख़ुदी (संगत अहंता) आलातरीन दर्जे के एहसास को पहचानने लायक़ (योग्य) नहीं होती; और आला दर्जों (श्रेष्ठ श्रेणियों) पर क़दम (चरण) बढ़ाती ख़ुद-फरामोशी (आत्म विस्मृति) की रफ़्तार (चाल) निचले और भद्दे वजूद (अस्तित्व) के तकलीफ़ और आराम के एहसास की अहमियत (महत्त्व) और गुञ्जायश (धारण क्षमता) का इमकान (सम्भावना) ख़त्म करने लगती है। आलातरीन समासम कैफ़ियत (श्रेष्ठतम पूर्ण संतुलन की अवस्था) में कहना-समझना बाक़ी न रहने पर महसूस तो बहुत कुछ होता है, हत्ताकि (यहाँ तक कि) उसके बदले कुछ भी हासिल करने की ख़्वाहिश नहीं रहती। लेकिन वहाँ एहसास और बयान बेमानी (अर्थहीन) हो जाते हैं, जिसको उपनिषद् में 'अनिर्वचनीय' लफ़्ज़ के तहत (अन्तर्गत) रखा गया है, महात्मा बुद्ध ने ख़ामोशी (मौन) के ज़रिये (द्वारा) ज़ाहिर (व्यक्त) किया है और तसव्वुफ़ (सूफ़ी

मत) और कबीर ने 'जो है सो है' कह कर सब्र (सन्तोष) कर लिया है। सहज मार्ग के तरीक़ा-तालीम (शिक्षण-पद्धति) की सादगी (सरलता/सहजता) अपने आप में एक पर्दा बन गई है, जिसकी वजह से रूहानी तरक़्क़ी (आध्यात्मिक प्रगति) के आला दर्जों की क़द्र (सम्मान/मूल्य बोध) नहीं रही। लोग शुरू की 'कुछ नहीं' की हालत में आला रूहानी दर्जों को हक़ीर (क्षुद्र) कहते फिरते हैं; गोया कि अपने आपको आला तरीन 'कुछ नहीं' की हालत में क़ायम-फ़र्मा (प्रतिष्ठित) समझते हैं।

मुख़्तसर (संक्षेपतः) बस इतना ही कि सहज मार्ग के हर ईमानदार सच्चे अभ्यासी को रूहानी तरक़्क़ी को सही तौर पर समझना और महसूस करना लाज़िम (आवश्यक) है। शुरू में ज़्यादातर माद्दी और जिस्मानी एहसास की अहमियत पर ज़ोर (बल) हो सकता है। लेकिन दिल और दिमाग़ की सेहत (स्वास्थ्य) और सुकून (शान्ति) की समझ धीरे-धीरे पैदा होनी चाहिए। करिश्मा (चमत्कार), शोब्दा (बाजीगर का खेल), जादू-टोना, चालबाज़ी, धोखाधड़ी वग़ैरह के ज़रिये असर (प्रभाव) पैदा करना रूहानियत (अध्यात्म) और ब्रह्मविद्या के क़तई बईद (नितान्त विरुद्ध) है; और इन चीज़ों का मुतलाशी (खोजने वाला) इस आलीशान इल्म (सर्वोत्तम विद्या) का अहल (पात्र) कभी नहीं हो सकता। दिल और दिमाग की पहुँच और पकड़ से आगे और ऊपर बहुत कुछ है ज़रूर (अवश्य), लेकिन उसकी भी मुनासिब समझ और एहसास रूह और खुदा की तरफ़ रुजू (उन्मुख) दिल और दिमाग़ के ही ज़रिये मुमकिन है। इसीलिए इस इल्म में दिल और दिमाग की सफ़ाई और ट्रेनिंग पर ख़ास ज़ोर (विशेष बल) है। हर तरह से एतदाली कैफ़ियत (सम्यक् सन्तुलित अवस्था) में मुक़ीम (निवास करने वाले) इन्सान के लिए ही नफ़ीसतरीन एज़्दी तोहफ़ा (सूक्ष्मतम ईश्वरीय उपहार) महफ़ूज़ (सुरक्षित) है, जो सभी बनी नौ-ए-इन्सान (समस्त मानव जाति की सन्तानों) का विरसा (पैतृक सम्पत्ति) है, मगर जिस के लिए सही तरह का (समुचित) रुझान (उद्दिष्टता) और कोशिश (प्रयत्न) मुश्किल से नसीब (दुर्लभ) होते हैं। सच कहा गया है कि 'आदमी को भी मयस्सर नहीं इन्साँ होना' (मानव

होना मनुष्य को भी दुर्लभ है)।

हिरासाँ (निराश) होने की बात नहीं, लेकिन ईश्वर की मदद (सहायता) सही तरह की हिम्मत (समुचित साहस) वाले मनुष्य का ही हिस्सा (भाग) होती है। लिहाज़ा (अतः) ज़िन्दगी के मक़सद (जीवन के उद्देश्य) और उसकी बर-आरी (संप्राप्ति) के रास्ते (मार्ग) को अपना कर उसी पर गामज़न हों (चल पड़ें); और जब तक मक़सद (लक्ष्य) हासिल (प्राप्त) न हो जाये, आगे और आगे बढ़ते जायें, इस तसकीन (आश्वासन) के साथ कि जो सही तरह से उसकी जानिब (ओर) एक क़दम (पग) बढ़ाता है, उसकी जानिब वह मक़सद दस क़दम आगे बढ़ता है। इस सब का एहसास एक हक़ीक़त (सच्चाई) है, लेकिन उसी के लिए जो इस एज़्दी वादे (ईश्वरीय वचन/आश्वासन) पर ईमान ला सके (पूर्ण विश्वास कर सके) और उस पर क़ायम (स्थिर) रह कर आगे बढ़ता रह सके।

●●●

अध्यात्म का उद्देश्य

(३० अप्रैल, १९९४)

बात किसी भी विषय से सम्बन्धित हो, असल चीज़ तभी है, जब वह मालिक की तरफ़ से हो, और उस के जन (बन्दा) की हैसियत उस में केवल एक उपकरण (आला-ए-कार) की हो। ऐसी वस्तु-स्थिति (सूरते-हाल) में इन्सान को ज़रूरत का अनुभव (एहसास) होता है, लेकिन उस में लालच और ख़ुदग़र्ज़ी शामिल नहीं होती है। ख़ुद की (अपनी) इच्छा से स्वतन्त्र (बरी) कर्त्तव्य पालन की निष्ठा (फ़र्ज़ की पुर-ख़ुलूस अदायगी) की यही विशिष्टता (ख़ास्सा) है, जिस को गीता में काफ़ी विस्तार (तफ़सील) के साथ स्पष्ट (वाज़ेह) किया गया है। इस हालत में समुचित रूप (मुनासिब तौर) से स्थित (क़याम) होने पर संस्कार बनना बन्द होते हैं, जो आध्यात्मिक स्वातंत्र्य (रूहानी आज़ादी) की दिशा में आरम्भिक चरण (इब्तिदाई क़दम) है, जो किसी समय अन्तिम आध्यात्मिक प्रगति का मापदण्ड (इन्तहाई रूहानी तरक़्क़ी का मेऽआर) समझा जाता था; लेकिन सहजमार्ग के मापदण्ड के तहत (अन्तर्गत) आध्यात्मिक लम्बे सफ़र (यात्रा) का आरम्भ (आग़ाज़) ही है, जिसको अनन्त यात्रा (लाइन्तहा सफ़र) कहना ही उचित (मुनासिब) है। इस विषय (मज़मून) के सातत्य (सिलसिले) में आरम्भिक और अन्तिम जाग्रति (इब्तिदाई और इन्तहाई बेदारी) की समरूपता (एकसानियत) का उल्लेख (तज़किरा) भी अत्यन्त उपयुक्त (निहायत मौज़ूँ) है : हब्बुल अव्वल हब्बुल आख़िर (अरबी कहावत)।

सहज मार्ग में प्रचलित (रायज) की गई प्रार्थना में विशेष (ख़ास) रूप से इच्छाओं (ख़्वाहिशात) को आध्यात्मिक प्रगति (रूहानी तरक़्क़ी) में मार्ग-अवरोधक दीवार (सद्दे-राह) बताया गया है। शरीरधारी के लिए यह असंभव (नामुमकिन) है कि इच्छाएँ उत्पन्न (पैदा) न हों। किन्तु

प्रकृति (कुदरत) की ओर से आवश्यकतानुसार (हस्ब-ज़रूरत) इच्छा पैदा होना, और अपनी लालची वृत्ति (हिर्स) और वासना (हवस) के अन्तर्गत (तहत) इच्छा पैदा करना, दो अलग बातें हैं। पहली स्थिति (सूरत) में इच्छा (ख़्वाहिश) की पूर्ति (तकमील) कर्त्तव्य (फ़र्ज) है; और इस प्रकार (तरह) के कर्त्तव्य का पालन (फ़र्ज-अदायगी) और इस कोटि (पाये) की इच्छा की पूर्ति (तकमील) प्रकृति (कुदरत) की धार के प्रवाह (रवानी) का अंग (हिस्सा) है। इस की हिस्सेदारी (भागीदारी) मनुष्य (इन्सान) को प्रकृति के उपकरण (कुदरत के आला-ए-कार) के रूप में (तौर पर) व्यक्तित्व (शख़्सियत) प्रदान करती (बख़्शती) है, जिस से आध्यात्मिक-बन्धन (रूहानी बन्दिश) उत्पन्न नहीं होता। प्रकृति की धार के प्रवाह में इस कोटि की भागीदारी से पलायन (गुरेज़) आध्यात्मिक बन्धन पैदा करता है, जिस के शिकार हठी (ज़िद्दी) प्रकार (क़िस्म) के तपस्वी (ज़ाहिद) और त्यागी (परहेज़गार) बहुधा (अक्सर) हुए हैं। संन्यासी को इसी वजह (कारण) से ईश्वर (ख़ुदा) से दूर कहा गया है। इस का अर्थ (मतलब) महात्मा बुद्ध, हज़रत ईसा मसीह और स्वामी विवेकानन्द जैसे संन्यासियों की आध्यात्मिक साधना-पद्धति (रूहानी तरीक़ा) का दोष-अन्वेषण (ऐब-जूई) नहीं है। इन महापुरूषों ने निःसन्देह (बेशक) संन्यास के आदर्श (मेऽआर) को अपने जीवन (ज़िन्दगी) के उदाहरण (मिसाल) के द्वारा (ज़रिये) सम्मान प्रदान किया (एज़ाज़ बख़्शा) है। वास्तव में (दर हक़ीक़त) अधिकाँश (ज़्यादातर) लोग अपने आसन/पद (नशिस्त) के द्वारा अपने आदर की वृद्धि (इज़्ज़त-अफ़ज़ाई) के प्रयत्न (कोशिश) में व्यस्त (मसरूफ़) रहते हैं। जो लोग अपने आसन को प्रतिष्ठा प्रदान करते (इज़्ज़त बख़्शते) हैं, उन की संख्या (तादाद) बहुत कम होती है।

अतएव (पस), सुस्पष्ट (ज़ाहिर) है कि जब इच्छाओं के परित्याग (तर्के-ख़्वाहिशात) की पद्धति (तरीक़ा) भी स्वार्थपरता (ख़ुद ग़र्ज़ी) का उपकरण (आला-ए-कार) बन कर परमात्मा (ख़ुदा) से दूरी पैदा करने लगती है, तो फिर अपनी लालची वृत्ति (तमऽअ) और स्वार्थ-परायणता (ख़ुदग़र्ज़ी) के मार्ग-दर्शन (रहनुमाई) में इच्छाएँ पैदा करने और उन

की पूर्ति (तकमील) के निमित्त दौड़-धूप (तगापो) के दोष (ऐब) का कहना ही क्या। इच्छाएँ आप के अपने निर्णय (फैसला) और चिन्तन (फ़िक्र) के अनुसार (मुताबिक़) अच्छी हों या बुरी, जब तक वह मालिक की ओर से नहीं होंगी, उन की पूर्ति के लिए दौड़-धूप (तगापो) आध्यात्मिकता (रूहानियत) और वास्तविकता/परम-सत्य (हक़ीक़त) के मार्ग (रास्ते) पर आगे बढ़ने का साधन (ज़रिया) कदापि (क़तई) नहीं हो सकती। आत्मिक-बन्धनों (रूहानी-बन्दिशों) का मकड़-जाल, लोग अपनी इच्छाओं के साथ अनुचित आसक्ति (बेजा लगाव) पैदा कर के स्वयं (ख़ुद) ही बुनते हैं, और व्यर्थ ही (नाहक़) अपने लिए बन्धनों (बन्दिशों) का प्रबन्ध (एहतमाम) करने का दोष (इल्ज़ाम) दूसरों के, यहाँ तक कि (हत्ता कि) मालिक या परमात्मा (ख़ुदा) के सर मढ़ने से नहीं हिचकते (बाज़ नहीं आते)। ऐसे लोग बन्धन (बन्दिश) के अलावा (अतिरिक्त) और किस के हक़दार (अधिकारी-पात्र) हो सकते हैं, जबकि वह काफ़ी अभिमान (फ़ख़्र) के साथ घोषणा (एलान) करते हैं कि उन्हें बन्धनों (बन्दिशों) से मुक्ति (आज़ादी) अर्थात् (यानी) मोक्ष, निर्वाण, लिबरेशन आदि (वग़ैरह) से कोई मतलब नहीं।

वास्तव में (दर असल) मोक्ष को चाहे जो नाम दिया जाये, वह मानव-जीवन (इन्सानी ज़िन्दगी) में अध्यात्म (रूहानियत) का मुख्य उद्देश्य (अव्वलीन मक़सद) है। हिन्दू फिलासफी (दर्शन) में मानवीय जीवन के उद्देश्य या लक्ष्य (मक़सद) की अच्छी व्याख्या (तशरीह) की गई है। दुनियादारी (साँसारिकता) के क्षेत्र (दायरे) में शरीर (जिस्म), प्राण (जान), मन (नफ़्स) इत्यादि (वग़ैरह) की हैसियत (स्थिति) से काम, अर्थ और धर्म का उल्लेख (तज़किरा) है, किन्तु आत्मा (रूह) के संदर्भ (जुगरे) में मोक्ष से कम कोई लक्ष्य (मक़सद) हो ही नहीं सकता। वास्तविकता (असलियत) यह है कि पाशविकता (हैवानियत) से आगे मनुष्यता (इन्सानियत) की उपलब्धि (हुसूल) मोक्ष से इतर (बईद) सम्भव (मुमकिन) ही नहीं है; और अध्यात्म-विद्या (इल्म-रूहानियत) इस आरम्भिक-लक्ष्य (इब्तिदाई-मक़सद) से अलग नितान्त (क़तऽअन्) अर्थ-हीन (बेमाऽनी) है। ईश्वर साक्षात्कार (ख़ुदा-रसी) या जो कुछ भी नाम उसे दिया जाये, इससे आगे (बाद) की वस्तु (चीज़) है। यह

असीम पश्चाताप (बेहद अफ़सोस) की बात होगी कि लालच (हिर्स) और वासना (हवस) की दासता (बन्दगी) को आध्यात्मिकता (रूहानियत) आदि (वग़ैरह) के रूप में (तौर पर) प्रस्तुत (पेश) किया जाता देख कर हमें इस श्रेष्ठ-विद्या (आऽला-इल्म) और मानवता (इन्सानियत) के वास्तविक-सिद्धान्त (असल-उसूल) को बदनाम करने के प्रयासों (कोशिशों) के समक्ष (आगे) शीश झुकाना (सर निगूँ होना) पड़े !

मोक्ष और ईश्वर-प्राप्ति (ख़ुदा-रसी) जैसे आदर्श (मेऽआर) को समझने और अपनाने में सामान्यतः (आम तौर पर) कठिनाई (दिक़्क़त) होती है, क्योंकि क्षुद्र-साँसारिकता (हक़ीर-दुनियादारी) और उससे सम्बद्ध (मुन्सलिक) इच्छाएँ (ख़्वाहिशात) मानवीय बुद्धि और समझ (इन्सानी अक़्ल-व-ख़िरद) पर इस सीमा तक छाई (हावी) रहती हैं कि उनसें आगे और अधिक श्रेष्ठ (बालातर) सत्य (हक़ीक़त) पर दृष्टि (निगाह) नहीं जाती; और जब विवश (मजबूर) हो कर उधर मुड़ना ही होता है, तो उन बातों (मरहलों) के विषय में (मुतऽअल्लिक) किसी समुचित-उपलब्धि (मुनासिब-हुसूल) के लिए पर्याप्त (काफ़ी) देर हो चुकती है, और उस के लिए अधिक (ज़्यादा) या भावी (आइन्दा) जीवन (ज़िन्दगी) की इच्छा (ख़्वाहिश) के अतिरिक्त (अलावा) कुछ शेष (बाक़ी) नहीं रहता। अतएव (लिहाज़ा) इन श्रेष्ठ आदर्शों (आऽलाऽ मेऽआर) के मानवीय-उपलब्धियों (इन्सानी-हुसूल) के विषय (बारे) में समुचित (मुनासिब) समझ पैदा होना और जीवन के उपयुक्त उद्देश्य (वाजिब मक़सदे ज़िन्दगी) के रूप में (तौर पर) अध्यात्म (रूहानियत) और उस के आगे जो कुछ भी यथार्थता (हक़ीक़त) है, उस को सही रूप में स्वीकार (क़बूल) किया जाना, आरम्भिक-चरण (इब्तिदायी-क़दम) होते हुए भी, इस अनन्त यात्रा (ला-इन्तहा सफ़र) का नब्बे प्रतिशत (फ़ीसद) बल्कि उससे भी कहीं अधिक भाग (हिस्सा) पार (तै) हो जाना है। शेष (बाक़ी) यात्रा (सफ़र) पूरा करने के लिए ही वह सब कुछ है, जिस को साधना, अभ्यास आदि कहा जाता है। प्रथम चरण (पहले-क़दम) को अन्तिम (आख़िरी) चरण कहने का यही अर्थ (मतलब) है। अब यह अवश्य (ज़रूर) है कि वास्तविक-उद्देश्य (असल-मक़सद) और उपयुक्त-आदर्श (वाजिब-मेऽआर) की समुचित (मौज़ूँ) समझ का

दावा तो बहुत लोग, बल्कि सम्भवतः (शायद) सभी करते हैं, यहाँ तक कि वह लोग भी जो अध्यात्म (रूहानियत) इत्यादि को मूर्खता (बेवकूफ़ी) कहते फिरते हैं, या फिर उसे अपने घर की साग और मूली घोषित करते (क़रार देते) हैं, अर्थात् (यानी) स्वयं (ख़ुद) तो बहके हुए हैं ही, दूसरों को बहकाने में उन्हें कोई झिझक (आऽर) एवं लज्जा (शर्म) नहीं होती, बल्कि (उल्टे) इसे अपनी बुद्धि (अक़्ल) की श्रेष्ठ उपलब्धि (आऽला हुसूल) समझते हैं। इन परिस्थितियों (हालात) में आत्मा (रूह) और परमात्मा (ख़ुदा) की दिशा में (ज़ानिब) झुकाव (रग़बत) और समझ मालिक की देन (बख़्शिश) ही कहना चाहिए। फिर भी जितना कुछ स्वयं (ख़ुद) के लिए अनिवार्य कर्त्तव्य (लाज़िम) है, उस का उत्तरदायित्व (ज़िम्मेदारी) संभालना स्वयं (ख़ुद) का ही कर्त्तव्य (फ़र्ज़) है, जबकि तमाम से उत्तरदायित्व स्वयं ही संभालने का प्रयत्न (कोशिश) और चलन (रविश) चल रहा (जारी) हो। सभी कुछ मालिक पर आश्रित (मुनहसिर) हो जाना निःसन्देह (बेशक) श्रेष्ठतम (बेहतरीन) प्रविधि (तरीक़ा) है; लेकिन इस विषय (मुआऽमले) में भी असल (वास्तविकता) और नक़ल (छद्म) का बहुत बड़ा अन्तर (फ़र्क़) है। असल की नक़ल करने में भी हर्ज (त्रुटि) नहीं, यदि (बशर्ते कि) नक़ल का मोह, असल को स्वीकार (क़ुबूल) करने में रुकावट न बने; और असल का स्वनिर्मित (ख़ुद-साख़्ता) विचार/प्रत्यय (ख़्याल) और मानचित्र (नक़्शा) असल के आगमन (आमद) का रास्ता (मार्ग) ही न बन्द (अवरूद्ध) कर दे। इस विषय (अमर) में बस (केवल) इतनी ही सावधानी (एहतियात) आवश्यक (ज़रूरी) है। शेष (बाक़ी) के लिए तो सर्व-समर्थ-मालिक (मालिके-कुल) की अगाध-कृपा (फ़ैज़े-बे-पायाँ) सदैव (हमेशा) सभी के लिए (तईं) प्रवाहित (र वाँ) है, जो पहले ही समुचित चरण (सही क़दम) में नब्बे प्रतिशत और उस से भी कहीं अधिक यात्रा (सफ़र) पार (तै) होने के वाऽदे (वचन) की घोषणा (एऽलान) करता है। सभी मालिक की दया (रहमत) और करूणा (शफ़क़त) से पूर्णतः लाभान्वित (सरशार) हों !

●●●

सींक की ओट पहाड़

(बसन्त पच्चमी, १९९५)

यह अजीब बात है कि लोग ऐसे काम करते रहते हैं, जिन के विषय में वे निश्चित रूप से जानते हैं कि उस के लिए उन के समर्थ सद्गुरु का समर्थन कभी प्राप्त नहीं हो सकता। इस से भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि वे अधिकतर यह दावा करते हैं कि वे ऐसा अपने सद्गुरु की प्रतिष्ठा और नेकनामी (शोहरत) बनाये रखने के लिए, और यहाँ तक कि उन्हीं (सद्गुरु) की तथाकथित इच्छा, समर्थन या आदेश इत्यादि के अनुसार करते हैं।

यह नोट करना अत्यन्त श्रेयस्कर हो सकता है कि किसी के द्वारा जो कुछ भी किया जाता है, सब से पहले और सब से अधिक उसी के खाते में जाता है, निःसन्देह, उसके परिणाम दूसरों के लिए भी होते हैं, जिसमें सद्गुरु की प्रतिष्ठा और नेकनामी भी शामिल रहती है। किसी न किसी रूप में हर व्यक्ति को यह आभास रहता है कि वह जो कुछ करने या न करने की भी योजना बनाता है, उस में प्रमुख रूप से, या कम से कम प्रारम्भतः उस व्यक्ति का अपना हित निहित है। अन्यथा, सचमुच वह, उसमें, आखिरकार, पड़े या लगे ही क्यों ?

अब, निश्चित ही, जो कुछ किसी व्यक्ति के अपने हित का निर्माण करता है, या जिसे उसका निर्माण करना चाहिए, उसके भद्देपन और परिमार्जन की अनेक मात्राएँ होती हैं। लोग हमेशा अपने हित के परिमाण का हिसाब लगाते हैं; और उसके अधिकतम की तलाश करते हैं। किसी सुयोग्य सद्गुरु से सम्बद्ध किसी मानव प्राणी के लिए एक मात्र महत्त्वपूर्ण विचारणीय विषय, अपने द्वारा चुने गये अपने हित की गुणवत्ता के बारे में सतर्क रहना ही है। प्रकृति अथवा ईश्वर द्वारा अपने असीम साम्राज्य में केवल मानव प्राणी को ऐसे चुनाव की

सुविधा उपलब्ध की गई है।

अब आप उस (तत्त्व) के बृहत्तम विस्तार का विचार करें, जो नितान्त भद्दे से सर्वाधिक परिमार्जित (निर्मल) सीमा तक, मानव प्राणी का निर्माण करता है। मानवीय इदन्ता के भौतिक, जैविक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक और दैविक (ईश्वरीय) आयाम, नितान्त भद्दे से ले कर सर्वाधिक परिमार्जित (निर्मल) तक के इसी क्रम में शास्त्रों द्वारा निर्धारित किये गए और सद्गुरुओं द्वारा बताये गए हैं। यह प्रत्येक मानव व्यक्ति के लिए इस विषय में मार्ग-निर्देशन के निमित्त पर्याप्त है कि उसने अपने लिए हित के रूप में क्या चुना है कि जिस की वह तलाश करें और जिस में वह लिप्त रहें। मानव जाति के श्रेष्ठतम सद्गुरुओं के आकार (क़द) वाले एक (सद्गुरु) स्वामी विवेकानन्द ने सच कहा है :'मुझे भला क्या प्राप्त होगा यदि मैं सारा संसार पा लूँ; किन्तु अपनी आत्मा खो दूँ।'

जब कि किसी सद्गुरु के जीवन-काल में ही अपने लिए हित का चुनाव अपने आप पर ही निर्भर है, तो समर्थ सद्गुरु के शारीरिक अविर्भाव और समस्त प्रतिबन्धनों से मुक्त हो जाने पर उन से मार्ग दर्शन पर निर्भर होना अरण्य-रुदन (मात्र) है। समर्थ सद्गुरु का मार्ग-दर्शन सदैव निःसन्देह विद्यमान है, 'किन्तु तब जब आप विद्यमान न हों।' जब, आप इस विषय में अपना हुक्म चलाने का प्रयास करें कि समर्थ सद्गुरु को क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए, तो फिर समर्थ सद्गुरु के आदेश के सुर में सुर मिला कर कार्य करने का दावा, नितान्त मिथ्याचार-मात्र रह जाता है। सामान्यतः उस का लक्ष्य, अपने लिए निश्चित रूप से बदनामी लाना, काफी हद तक समर्थ सद्गुरु का काम जारी रहने को क्षति पहुँचाना, और कुछ सीमा तक समर्थ सद्गुरु की नेकनामी, को भी हानि पहुँचाना रहता है। किसी सचमुच असली समर्थ सद्गुरु की प्रतिष्ठा और नेकनामी को तो कभी भी कोई वास्तविक हानि नहीं पहुँचती। ऐसे सद्गुरु के लिए जो चिन्ता का विषय होता है, वह उस कार्य के जारी रहने (सातत्य) में व्यवधान पैदा होना है, जो काम उच्चतम हैसियत के वास्तविक सामर्थ्य से सम्पन्न सद्गुरु के अस्तित्व और नेकनामी का सम्पूर्ण

मूलतत्त्व होता है। ऐसा समर्थ सद्गुरु ऐसे एक शिष्य (को पाने) के लिए सचमुच तड़पता है, जो आने वाली पीढ़ियों के समक्ष उस (समर्थ सद्गुरु) का प्रतिनिधित्व अथवा अधिक अच्छे शब्दों में, उसे सच्चे अर्थ में प्रस्तुत कर सके। कई वास्तविक सामर्थ्य से सम्पन्न सद्गुरुओं के द्वारा अपने प्रतिनिधि का शताब्दियों तक इन्तज़ार करने की स्थिति रही है, जो (प्रतिनिधि) सद्गुरु को ज़िम्मेदारियों से पूर्ण मुक्ति समर्पित करने में अकेला सक्षम होता है।

अतएव किसी शिष्य द्वारा अपने वास्तविक हित के अधिकाधिक साक्षात्कार (सिद्धि) का एक मात्र मार्ग (साधन) समर्थ सद्गुरु के कार्य को जारी रखना और ऐसे सद्गुरु के अस्तित्व और योगदान के मूल तत्त्व का निर्माण करने वाली सामग्री का निरन्तर उन्नयन (प्रवर्द्धन) ही है। यह समर्थ सद्गुरु के मूल तत्त्व के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान, दर्शन और उस में प्रविष्ट होकर ही सम्भव हो सकता है, जो निःसन्देह उन्हीं की सदैव विद्यमान कृपा के अधीन है। यह कैसे सम्भव हो सकता है, इसे आधारभूत रूप से सर्वोच्च सामर्थ्य सम्पन्न प्रभु श्रीकृष्ण से कम किसी (समर्थ सद्गुरु) ने नहीं बतलाया है :

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।।
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन।
ज्ञातुं दृष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।।

—गीता ११ : ५३-५४।।

[जिस तरह मुझको (विराट रूप में) देखा है, इस तरह (देखना) संसार में न तो वेदों द्वारा, न तप द्वारा और न ही यजन (यज्ञ) द्वारा संभव है। हे परंतप अर्जुन ! इस तरह तत्त्वतः जानना, देखना और प्रवेश अनन्य भक्ति द्वारा ही संभव है।]

और अनन्य भक्ति का यह मार्ग किस बात में समाविष्ट है ? बस अपने को भूल कर अपने परम स्वत्व की प्राप्ति में, जो तत्त्व रूप में सर्वोपरि समर्थ सद्गुरु की यथार्थ सत्ता के ज्ञान, दर्शन और उस में प्रवेश की वही प्रक्रिया है। यह किसी के अपने स्वरूप और अपने हित के नितान्त भद्दे से ले कर सर्वाधिक परिमार्जित (निर्मल) परिदृश्य तक

की लम्बी यात्रा है, जिसे तै करने में एक क्षण के अत्यल्प अंश से भी कम (समय) लगता है, जब आँख अथवा वास्तविक दर्शन के उपकरण का किरण बिन्दु (फोकस) अपनी ओर से समर्थ सद्गुरु की ओर घूम जाता है, जो (समर्थ सद्गुरु) एक ही समय में अन्य (व्यक्ति) और अपना वास्तविक स्वरूप एक ही साथ होता है। यह दूसरे शब्दों में इस तरह कह सकते हैं, कि 'लोग मेरा दर्शन करने आते हैं और मुझे देखे बिना ही लौट जाते हैं,' जो (मैं) कहीं भी आप के निकटतम रहता है; और उस मुझ को तलाश करने आप को हिमालय या दक्षिणी ध्रुव जाना ज़रूरी नहीं, यद्यपि उन जगहों की अपनी सुन्दरता और मनोहरता हो सकती है, जिस की उपेक्षा या अनदेखी करना भी अनिवार्यतः आवश्यक नहीं। जो बात ध्यान देने और याद रखने की है उसे एक उर्दू शेऽर (दो पंक्ति की पद्य) में संक्षेपतः अच्छी तरह रख दिया गया है :

'न कोई पर्दा है उसके दर पर, न रूए-रौशन नक़ाब में है।
मगर तू अपनी खुदी से ऐ दिल, हिजाब में है, हिजाब में है।।'

[न तो उस के द्वार पर कोई पर्दा है; और न ही उसके स्वयं प्रकाशित चेहरे पर कोई नक़ाब पड़ी है। लेकिन ऐ हृदय, तू तो अपनी ही अहंवादिता के कारण पर्दे में आवरणबद्ध; शर्म के अवगुष्ठन में घनीभूत है।]

सचमुच अपनी आँख के निकट की सींक की ओट में पहाड़ (छिपा) है।

●●●

अध्यात्म की कठिनाई

(३० अप्रैल, १९६५)

गेहूँ के नाम पर जौ या धान की भूसी बिकने की शिकायत व्यर्थ है, अर्थात् उससे कोई लाभ नहीं, यदि गेहूँ ख़रीदने और खाने वालों को गेहूँ की पहचान की तमीज़ नहीं। शिकायत यह भी हो सकती है कि अध्यापक ने या माता-पिता ने या फिर सरकार ने ही इस या उस संस्थान में गेहूँ की पहचान की तमीज़ पैदा करने का उचित प्रबन्ध क्यों नहीं किया ! बहरहाल, शिकायत के लिए गुञ्जायश हर हालत में रहेगी; बल्कि सारी व्यवस्था और संस्थाओं के ख़िलाफ़ अगर शिक़ायत की सम्भावना समाप्त हो जाए तो अन्ततः ईश्वर के विरुद्ध शिक़ायत का अवसर तो रहेगा ही कि उसने मुझे गेहूँ को पहचानने की तमीज़ क्यों नहीं प्रदान की; या फिर गेहूँ के नाम पर दूसरा कुछ बेचने वालों पर विनाश की प्रलयंकर वृष्टि क्यों नहीं करता, बल्कि यह भी कि यदि गेहूँ हमारे लिए अच्छी चीज़ है तो अन्य कुछ जो गेहूँ के नाम पर बेचा जा सकता हो, पैदा ही क्यों किया गया, इत्यादि।

अब चूँकि ईश्वर इन शिकायतों को सुनने, और उनको शिकायत करने वाले की इच्छाओं के अनुरूप दूर करने के लिए आपके सामने प्रस्तुत नहीं है, अतः आपके अतिरिक्त कोई ऐसा आपको मिलना चाहिए, जिसे आप हर नागवार बात के लिए ज़िम्मेदार ठहरा सकें। और अगर आपने अपने माँ या पिता या गुरु आदि किसी को विवश हो कर या फिर किसी से सुन कर या कहीं पढ़ कर ईश्वर का दर्जा दिया है, तो किसी हद तक आपको अपनी कठिनाई का हल (समाधान) आसानी से मिल गया; अर्थात् आप उसे हर बेजा बात के लिए उत्तरदायी बता सकते हैं, जिस को आप ने ईश्वर स्वीकार करने का दावा किया है। उसके प्रति आप के किसी कर्त्तव्य का कोई

सवाल नहीं हो सकता, क्यों कि उसे ईश्वर का दर्जा प्रदान कर उस बेचारे पर जो बड़ा एहसान कर दिया, वह आप को अपने विचार के अनुसार समस्त कर्त्तव्यों के बोझ से मुक्त कर देने के लिए काफ़ी है 'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत' और 'मन चंगा तो कठौती में गंगा।'

कहा जा सकता है कि गेहूँ और आध्यात्मिकता में भेद (अन्तर) है। मानव-संस्कृति के उत्कर्ष की वर्तमान स्थिति में गेहूँ को पहचानने की ज़िम्मेदारी गेहूँ ख़रीदने और खाने वाले मनुष्य की हो सकती है; किन्तु अध्यात्म के मापदण्ड की समझ अभी इस सीमा तक विकसित नहीं हो सकी है कि असली (वास्तविक) आध्यात्मिकता की पहचान का उत्तरदायित्व उस के प्रति ललक से सम्पन्न मनुष्यों (व्यक्तियों) पर लागू किया जा सके। अतः इस विषय में मनुष्य के लिए अपने आप पर भरोसा करने के बजाय (बदले) ईश्वरीय कृपा, प्रकृति की व्यवस्था या श्रेष्ठतम व्यक्तित्व की योग्यता (क्षमता) की प्रतीक्षा और उस का मोहताज (मुखापेक्षी) होना अनिवार्यतः समुचित है। साधारण मनुष्य की बुद्धि और समझ इस सन्दर्भ में बिना रोशनी की आँख है। हज़ारों साल बाद सत्दर्शन की क्षमता से सम्पन्न मनुष्य (व्यक्ति) बड़ी मुश्किल से पैदा होता है :

'हज़ारों साल नर्गिस अपनी बेनूरी पे रोती है।
बड़ी मुश्किल से होता है, चमन में दीदा-वर पैदा।।'

(आँख की बनावट के फूल, नर्गिस हजारों साल अपनी दृष्टिहीनता पर रोते हैं; फुलवारी में कोई वास्तविक दृष्टि से सम्पन्न बड़ी मुश्किल से पैदा होता है।)

अर्थ युक्त कुछ भी कहा जाये या विचार में आये, किसी सीमा तक सच अवश्य होता है; यद्यपि सम्पूर्ण सत्य को कभी किसी विचार या बयान (कथन) में क़ैद नहीं किया जा सकता। यह काफी हद तक सच है कि आध्यात्मिकता के श्रेष्ठतम मापदण्ड के पद पर प्रतिष्ठित व्यक्तियों के बीच शताब्दियों की दूरी घटित हुई है। बहुधा उन्होंने स्वयं या फिर उनके अनुयाइयों ने दावा किया है कि आध्यात्मिकता

और परमात्म-साक्षात्कार की उच्चतम प्रगति उन पर समाप्त हो गई, और उनके बाद मानव जाति की संतान के लिए उनके द्वारा अनुसरण किये गये और बताये गये मार्ग की लकीर का फ़क़ीर होना ही शेष रह गया है। इस रवैये ने आध्यात्मिकता को एक विद्या का रूप धारण करने में कठिनाई पैदा की है, और उसे विभिन्न धर्मों के प्रवर्तकों और उन से भी अधिक उन के अनुयाइयों और पैरोकारों की अहम्मन्यता और स्वार्थपरता का उपकरण बनाने में सहायता की है। जिन लोगों ने आध्यात्मिकता अर्थात् आत्म-परिचय और ईश्वर-साक्षात्कार अर्थात् परमात्म-परिचय को एक विद्या के रूप में स्थापित करने को वरीयता प्रदान की है, उन्होंने अपने को भूल कर उन सिद्धान्तों (नियमों) का पता लगाने का प्रयत्न किया है, जिन के अन्तर्गत आत्मा और परमात्मा से सम्बन्धित घटनाओं का आविर्भाव सम्भव होता है, और जिन नियमों (सिद्धान्तों) का उपयोग करके इन घटनाओं पर नियन्त्रण प्राप्त किया गया है और किया जा सकता है। सभी सिद्धान्तों की तरह इन सिद्धान्तों की भी सीमाएं हैं और उन का भी पता लगाया जाना आवश्यक है। उदाहरण के रूप में दो और दो चार होते अवश्य हैं, लेकिन दो और दो पत्थर, पेड़ या उँगलियाँ जिस प्रकार चार पत्थर, पेड़ या उँगलियाँ होती हैं, उस तरह दो और दो पानी की बूँदें या हवा के झोंके या मित्रता एवं शत्रुता की अनुभूतियाँ चार नहीं कहे जा सकते। साहित्यिक अलंकार के रूप में भी दो और दो आँखे चार होना कहा जाता है, लेकिन इसका अर्थ वही नहीं जो दो और दो गेहूँ के दानों को मिलकर चार होना है। गणितशास्त्र, भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान और साहित्यिक अलंकार (काव्यशास्त्र) आदि सभी के अपने क्षेत्र, नियम, सिद्धान्त और सीमाएं हैं; और यदि कोई इन की सूक्ष्मताओं से अलग रह कर केवल खाने-पीने, बच्चों आदि की आवश्यकताओं, अपने व्यवसाय, आराम या तकलीफ में जीवन-यापन और सम्मान-पूर्वक मर जाने तक सरोकार रखना चाहे, तो भी कुछ हर्ज नहीं। कठिनाई तब पैदा होती है जब किसी विद्या के सूक्ष्म बिन्दुओं से सरोकार रखने वाले को उपहास या गाली का निशाना बनाया जाता है, और गैलेलियो को घुटनों को टेक कर क्षमा-याचना करने और अपने मित्र के कान

में चुपके से यह कहने को विवश होना पड़ता है कि 'पृथ्वी अब भी सूर्य के चक्कर लगा रही है।'

आध्यात्मिकता और उसके आगे ईश्वर-साक्षात्कार को विद्या के रूप में स्थापित करने की आवश्यकता मानव संस्कृति के वर्तमान युग में उभर कर सामने आई है; और तमाम कठिनाइयों के रहते हुए भी उस का एक विद्या के रूप में विकसित होना अनिवार्यतः आवश्यक है। इस के लिए सबसे पहले आवश्यक यह होगा कि आत्मा और उस के आगे जो सत्ता जितना कुछ अनुभूति के स्तर पर उपलब्ध है, उस के बारे में उपयुक्त प्रश्न उठाये जाएँ और हल किए जाएँ, जिससे उन नियमों और सिद्धान्तों का पता लग सके जो शारीरिक और मानसिक पक्ष से आगे और हल्के (सूक्ष्म) अपने अस्तित्व को समझने और इस्तेमाल करने में सहायक सिद्ध हों। उदाहरण के तौर पर, ध्यान के द्वारा हृदय और मस्तिष्क के संतुलन से हो कर शान्त-मौन के सुख की एक ऐसी हालत में प्रवेश करना जो लगातार नफ़ीस (उदात्त) से नफ़ीसतर (अधिक उदात्त) आध्यात्मिक गन्तव्यों (मंज़िलों) को प्राप्त करके आगे बढ़ने (तै करने) की शुभ सूचना (ख़ुशख़बरी) की अनुभूति (एहसास) प्रदान करती है, जो आध्यात्मिकता (गन्तव्य) से सम्बद्ध प्रामाणिक साहित्य में बयान (वर्णन) किए गए हैं, और जिनको अपनी अनुभूति के आधार पर स्वयं वर्णन किया जा सकता है। इसके आगे आत्म-विस्मृति (ख़ुद-फ़रामोशी) के द्वारा ईश्वर-साक्षात्कार (ख़ुदा-शिनासी/परमात्म-परिचय) के सोपानों (दर्जों) और गन्तव्यों (मञ्ज़िलों) को यात्रा (सफर) है, जिसको भी एक व्यवस्थित क्रमबद्ध विद्या (मुनज़्ज़िम बा-सिलसिला इल्म) के रूप में अपनाया और प्रस्तुत किया जाना चाहिए।

अध्यात्म और उससे आगे जो कुछ (ब्रह्म-विद्या) है, उसे एक विद्या के रूप में व्यवस्थित और सुसज्जित (नज़्म-व-नस्क़) किये जाने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि सामान्यतः लोग अपनी छोटी या बड़ी स्वार्थपरता की सम्पूर्ति के लिए इस दिशा में उन्मुख (मायल) होते है; और बहुधा वह लोग, जो इस विषय में निपुण और गुरु कहे और समझे जाते हैं, वह भी इसे अपनी स्वार्थ-परायणता की

उपलब्धि का साधन बनाते हैं। किसी के चार बेटियाँ हैं मगर बेटा नहीं है, बल्कि किसी की गाय उपयुक्त मात्रा में दूध नहीं दे रही है, तो आध्यात्मिक प्रतिष्ठा के गुरु की इच्छा-शक्ति के द्वारा अथवा ईश्वर तक पहुँचने वाले महात्मा (खुदा-रसीदा बुज़ुर्ग) की दुआ (प्रार्थना/आशीष) या ताऽवीज (रक्षा-कवच) की सहायता से इस कठिनाई के समाधान (हल) की आशा की जाती है; और ऐसे गुरु और महात्मा भी लोगों को अपने चमत्कारों (कमालात) का विश्वासी (कायल) बनाकर प्रसन्न हो लेते हैं। ऐसी परिस्थितियों में यदि कोई आध्यात्मिक सोपानों पर प्रतिष्ठा की अवस्था में इच्छा-शक्ति (कुव्वते-इरादी/समीहा) के प्रकार-भेद या वस्तु-भेद (नौवैऽयत) का पता लगाने या दुआ (प्रार्थना/आशीर्वाद) की स्वीकृति या सफलता (मक़बूलियत) की निर्धारक-परिस्थितियाँ (शर्तों/परिवर्तनीय घटकों) को मालूम करने की चिन्ता (फ़िक्र) करे तो यह उसकी मूर्खता (हिमाक़त) बल्कि धर्म-भ्रष्टता (कुफ़्र) भी कहा जा सकता है। इन वस्तु-स्थितियों के अन्तर्गत आध्यात्मिकता और ईश्वर-साक्षात्कार को विद्या की श्रेणी देने की चर्चा करने वालों की रक्षा ईश्वराधीन ही रहेगी (खुदा हाफिज) !

'नातवाँ क़ैस, नाज़नीं लैला, कौन पर्दा उठाये महमिल का।'

(प्रेमी मजनू दुर्बल है, और प्रेयसी लैला कोमल। तब फिर ऊँट की पीठ पर बँधे काठी-पालान का पर्दा कौन उठाये, जिसमें लैला बैठी है !)

इन कठिनाइयों के रहते हुए भी मानव संस्कृति का इतिहास गवाह है कि अध्यात्म और ईश्वर-साक्षात्कार को एक व्यवस्थित विद्या के रूप में अपनाने और प्रस्तुत करने वाले समर्थ सद्गुरु विशेषतः भारत देश में प्रकट होते आये हैं; और वे इस विद्या के सिलसिले को बनाये रखने के लिए सत्य की आराधना और अहंता (अहम्मन्यता) के उत्सर्ग से कभी कहीं झिझके नहीं हैं। महात्मा बुद्ध ने वेदों के अंधानुकरण के विरुद्ध किसी भी मोर्चे पर क्रांतिकारी संघर्ष से मुँह नहीं मोड़ा; और परमहंस रामकृष्ण ने स्वामी विवेकानन्द को अपने प्रतिनिधि के रूप में श्रेष्ठता प्रदान करने में स्वयं अपने महत्त्व को आड़े नहीं होने दिया। अध्यात्म और उसके आगे जो कुछ भी है, उसे

एक विद्या के रूप में विकसित करने के लिए आवश्यकता केवल मनोभाव (अभिवृत्ति–रवैया) परिवर्तित करने की है। न्यूटन की त्रुटियों को प्रकाशित करके आइन्सटीन उनका अपमान नहीं करते, अपितु उनके काम (योगदान) को आगे बढ़ाते हैं। इस समय आध्यात्मिकता अर्थात् आत्म-साक्षात्कार (आत्म-परिचय) को धार्मिक मनोभाव के स्थान पर एक विद्या अर्थात् विज्ञान (साइंस) के रूप में अपनाने और प्रस्तुत करने की आवश्यकता है, और यह होकर रहेगा। इसका उपकरण जो भी हो, उसे अपने काम (अभियान) में सौभाग्य (बरकत = नेकबख्ती) प्राप्त हो।

●●●

उत्थान और पतन

(बसन्त पञ्चमी, १९९६)

संस्थाएँ और पार्टियाँ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्थापित होती हैं; और उन के उद्देश्य की पूर्ति के बाद या तो उनके उद्देश्य में कोई विशेष परिवर्तन हो या फिर उन के विषय में 'हर कमाले रा ज़वाले, हर ज़वाले रा कमाल' (प्रत्येक श्रेष्ठ उपलब्धि का अधःपतन और हर अधःपतन का एक उत्थान है) की उक्ति चरितार्थ होती है। आध्यात्मिकता का इतिहास इससे मुक्त अथवा इस का अपवाद क्यों होगा। प्रकृति का नियम सामान्यतः हर हालत में क्रियान्वित होना आवश्यक है।

अध्यात्म और उसके आगे परमात्म-साक्षात्कार के क्षेत्रों में कमाल और ज़वाल अर्थात् उत्कृष्टता और निकृष्टता या उत्थान और पतन, वास्तविकता अर्थात् सत्य के दर्शन की क्षमता का प्रयोग होने या न होने पर निर्भर रहा है और रहेगा। वेदों की संस्कृति कमाल प्राप्त करती रही, जब तक सुनहरे पात्र से ढक गये सत् (सत्य) का दर्शन करने की बैचनी ऋषियों में विद्यमान रही :

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।

और आगे चलकर भी गायत्री मन्त्र से सत् (सत्य) का अन्वेषण कर सकने वाली बुद्धि और समझ के क्रियाशील रहने को वरीयता प्राप्त होती रही। बाद में ज़वाल (अधःपतन) की कहानी प्रस्तुत हुई, जब स्वार्थपरता-सिक्त यज्ञों और भण्डारों को महत्त्व दिया जाने लगा; और पार्थिव (भौतिक) इच्छाओं की पूर्ति के सामने सत्-दर्शन और सत्यार्चन की क्षमता का स्थान लक्ष्य के बदले

साधन के रूप में आ गया।

वैदिक संस्कृति के अधःपतन को महात्मा बुद्ध ने फिर समुत्थान प्रदान किया। सत्-दर्शन और सत्य की अर्चना के लिए उन्होंने हर चीज़ छोड़ दी और स्वयं अपने सही प्रयास के द्वारा वह दिव्य दृष्टि प्राप्त की जो अध्यात्म और परम तत्त्व के साक्षात्कार का लक्ष्य और उद्देश्य-प्राप्ति का मात्र साधन एक ही साथ है, जिसको प्राप्त कर लेने पर कुछ और प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। उनकी इस श्रेष्ठ उपलब्धि का अधःपतन उन का जीवन समाप्त होते ही आरम्भ हो गया, जब उन को अध्यात्म और परम-तत्त्व के साक्षात्कार के मार्ग को साफ़ कर के उस पर आगे बढ़ने की सत्प्रेरणा प्रदान करने वाले पथप्रदर्शक के बदले, लोगों की कामनाओं और ऐहिक आवश्यकताओं को पूरा करने वाले देवता या ईश्वर आदि का दर्जा दिया जाने लगा; और स्वार्थी लोग तरह-तरह की पूजाओं, ताऽवीजों और प्रार्थनाओं—आशीर्वादों आदि के द्वारा अपने और दूसरों के साँसारिक स्वार्थों की सम्पूर्ति में संलग्न हो गये।

यह उत्थान और पतन, कमाल और ज़वाल का सिलसिला आज तक क़ायम है, जब संस्थाएँ शाखा-दर-शाखा चलती जाती हैं। क़ब्रों और समाधियों पर मन्नतें, चढ़ावे, चादर, परिक्रमा आदि के सिलसिले जारी रहते हैं, और अध्यात्म एवं परमात्म (परम तत्त्व) के साक्षात्करण का उद्देश्य मद्धिम होता हुआ समाप्त हो जाता है; और मानवता सच्चे पथ-प्रदर्शक एवं इस विद्या को श्रेष्ठ दीप्ति प्रदान करने वाले की प्रतीक्षा करती है।

मतलब यह नहीं कि श्रेष्ठ कोटि के आप्त-जन की याद और उन से सम्बद्ध स्मृति-स्थलों के प्रति आदर सम्मान में कोई आपत्ति की बात है। महात्मा बुद्ध के दाँत और हज़रत मुहम्मद के पवित्र बाल आदि को शताब्दियों तक उनकी मूल्यवान यादगार के रूप में सुरक्षित रखने में कोई हर्ज नहीं, यदि इन यादगारों से लगाव रखने वालों को यह पता रहे कि इन का महत्त्व उन बुजुर्गों से सम्बद्ध होने के कारण है, न कि इस के उल्टा। उन श्रेष्ठ व्यक्तित्वों से सम्बद्ध स्मृति-चिह्नों में उन के

श्रेष्ठ श्रेणी की प्रतिष्ठा का प्रभाव अवश्य रहता है, किन्तु उन्होंने जिन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए साधनों और पद्धतियों का पता लगाया, उन को समझने और उन का अनुसरण करने के बदले यदि केवल यादगारों की पूजा को वरीयता प्राप्त होने लगे तो इसे उन श्रेष्ठ दर्जे के आप्त-जनों (बुज़ुर्गों) का अपमान और उनके कमाल के असली जौहर या दीप्ति (Brilliance) का ज़वाल यानी अधःपतन ही कहना और समझना होगा। यह तो ऐसा ही होगा कि अति मूल्यवान हीरे को खोकर, जिस काग़ज़ के टुकड़े में वह कभी लपेटा गया था, उस की हिफ़ाज़त और पूजा की जाये, बल्कि उसे लड़ाई-झगड़े की बात बनाया जाये।

कमाल का ज़वाल यही है कि असल की जगह कुछ ऐसी चीज़ क़ायम कर दी जाये जो असल नहीं है, बल्कि असल से किसी न किसी सूरत में वाबस्ता (सम्बद्ध) रही हो; और असल को दिल देने वालों में असल की पहचान की तमीज़ मद्धिम पड़ती जाये और धीरे-धीरे खत्म हो जाये। इस तरह के अन्धों और खुदग़र्ज़ों की जमाऽतें और सोसाइटियाँ असल की यादगारों के इर्द-गिर्द फलती-फूलती रहती हैं, और असल फिर रूनुमा (प्रकट) होने का इन्तज़ार करती है। अध्यात्म विद्या के विषय में महात्मा बुद्ध, कबीर और विवेकानन्द आदि सभी के साथ ऐसा ही हुआ।

ज़वाल का कमाल यह है कि असल की पहचान और असल से निस्बत (सम्बद्ध) रखने वाला मक़सद (उद्देश्य) और उसकी पूर्ति से ताऽल्लुक रखने वाले साधनों और सिद्धान्तों की सही समझ और उनके साथ उचित प्रतिबद्धता पैदा हो और उसे बाक़ी सब पर वरीयता प्राप्त हो।

अध्यात्म के सिलसिले में इसे अक्सर (बहुधा) नुमाइन्दगी (प्रतिनिधित्व) के मज़मून (विषय) से जोड़ा जाता है। वास्तव में इस पर इस्लाम में और सूफ़ियों के सिलसिलों में ज़्यादा ज़ोर दिया जाता है। संभवतः हज़रत मोहम्मद साहब से पहले आऽला-तरीन (श्रेष्ठतम) दर्जे (कोटि) के सद्गुरुओं को रूहानियत (अध्यात्म) और मऽरिफ़त

(परमात्म-साक्षात्कार) की विद्या को प्रकाशित करने वाले आऽला (श्रेष्ठ) पैमाने के शागिर्द की ज़रूरत भले ही महसूस हुई हो, ख़लीफ़ा या नुमाइन्दा नामज़द करने और सिलसिले के शजरे (वंश-वृक्ष) जपने के लिए तैयार करने को प्रोत्साहित नहीं किया गया। कबीर साहब ने धर्म दास को अपना प्रतिनिधि बनाया, जिन का क्या हुआ यह तो पता नहीं, लेकिन कबीर साहब के तथा-कथित पुत्र कमाल, और कबीर साहब के एक लायक़ (योग्य) शागिर्द (शिष्य) सुरत गोपाल जी ने आपस में समझौता कर के कबीर दास का नाम और काम ज़िन्दा रखने और उसे रोशन करने की फ़िक्र और कोशिश कर के अपने को स्थापित किया; यहाँ तक कि सुरत गोपाल जी की शागिर्दी के शजरे में आठवें गुरु ने एक धर्म दास भी बना दिया जिनके नाम पर गुजरात में धर्म-दासी कबीर-पन्थ फल-फूल रहा है। लेकिन कबीर साहब का काम भी लगभग उसी तरह के झमेलों में ग़ायब हो गया जैसा कि तमाम श्रेष्ठ कोटि के सद्गुरुओं के साथ होता आया है।

ज़वाल को कमाल की दिशा में आगे बढ़ाने के लिए ज़रूरत उस विद्या को प्रवर्द्धित कर के ही संभव हो सकती है जिस को श्रेष्ठ कोटि के पुराने सद्गुरु वास्तविक उद्देश्य और उस के समुचित साधनों की तलाश में ख़ुद को विस्मृत करके बार-बार लगातार क़ायम करते रहे हैं और करते रहेंगे।

अतः 'आमदम-बरसरे-मतलब' की (अब मुख्य) बात पर आता हूँ कि कमाल (उत्थान) और ज़वाल (पतन) के विषय में केवल एक ही बात को अहमियत हासिल है कि मक़सद (उद्देश्य) और सम्पूर्ति के साधनों की प्रतिबद्धता उस असल चीज़ के साथ क़ायम रहती है या नहीं जो हर सूरत में वही रहता है जोकि वह है। वह लाज़वाल बाकमाल है और अध्यात्म और परमात्म-साक्षात्कार की विद्या उससे निरपेक्ष प्रतिबद्धता का मज़मून (विषय) और मफ़्हूम (सार तत्त्व) है; और यही उन श्रेष्ठ विद्याओं का आदि और अन्त है। उत्थान और पतन दिल और दिमाग़ को प्रभावित करते अवश्य हैं किन्तु असल से निस्बत रखने वाले उस पर आश्रित, और उससे सन्तुष्ट रहने वाले

व्यक्तित्व को इस पूर्ण विश्वास के साथ सदैव आगे बढ़ना लाज़िम (नितान्त आवश्यक) है कि–

फ़ानूस बन के जिस की हिफ़ाज़त हवा करे,
वह शमाऽ कब बुझे जिसे रोशन खुदा करे।

●●●

वास्तविक पूजा

(३० अप्रैल, १९९६)

पूजा कुछ न कुछ, लगभग सभी लोग, करने का दम भरते हैं; लेकिन सही तरह की पूजा तब है, जब आम तौर पर जिस को पूजा कहा और समझा जाता है, उस की ज़रूरत न रह जाये, और पूजा न करने में भी पूजा से कभी दूर न हो। इस की मिसाल बेहद नायाब (दुर्लभ) है। ज़माने गुज़र जाते है, तब कहीं किसी में यह असली पूजा की झलक पैदा होती है। वह भी जब ख़ुदकर्दा (अपनी गढ़ी हुई) न हो बल्कि बख़्शिश (दान) के रूप में प्राप्त हुई हो; यहाँ तक कि बख़्शिश का बोझ भी उस पर न रहे, जिस की कि वह बख़्शिश है। 'सहज' शब्द की इस से अच्छी व्याख्या सम्भव नहीं प्रतीत होती, जब कि उस सर्वशक्तिमान स्वामी के लिए कुछ भी कभी भी असम्भव नहीं। यह एक दूसरे से विरोधी इबारत (व्याख्यान) हक़ीक़त (यथार्थता) की जान है।

अध्यात्म और उस के आगे हक़्क़ानियत (यथार्थता-बोध) को सामान्यतः एक इल्म (विद्या) के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता, बल्कि पूजा करने-कराने वाले से यह आशा की जाती है कि वह लोगों की सांसारिक कामनाओं की पूर्ति में मदद करे। बहुधा इन विषयों के माहिर (दक्ष) उस्ताद लोग भी इसी प्रवृत्ति को हवा देते हैं, और इसी को अपना कमाल समझते रहते हैं; और अक्सर उन के नाम पर दुआ (प्रार्थना/आशीर्वाद) का व्यापार उनके पैरोकार सिलसिलों के द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी शताब्दियों तक चलता रहता है। न्यूटन और डारविन से यह उम्मीद नहीं की जाती कि उन की कृपा से किसी की बीमारी ठीक हो जाये या चुनाव में विजय प्राप्त हो, लेकिन महात्मा बुद्ध, ईसा-मसीह, कबीर, ख्वाजा-अजमेरी, स्वामिनारायण आदि का महत्त्व इसी

तरह की बातों पर निर्भर माना समझा जाता है ; यहाँ तक कि स्वामी विवेकानन्द जी के विषय में यह पता लगने पर लोगों को आश्चर्य होता है कि सारे संसार में कामयाबी और शोहरत प्राप्त होने के बाद भी उन्हें अपनी माता को तुच्छ आर्थिक सहायता के लिए राजस्थान की खेतड़ी रियासत के राजा से प्रार्थना करनी पड़ी, जबकि आज भी संस्कृति की उलझनों को सुलझाने में सहायता करने की पुकार स्वामी जी से की जाती है; और उनके द्वारा बनवाये गये कलकत्ता के बेलुड़ मठ में लोग मानसिक शान्ति या अन्य इच्छाओं की पूर्ति के लिए उन की समाधि की ज़ियारत दर्शन करने जाते हैं।

साधारणतः पूजा के उद्देश्य और तरीक़ा दोनों के विषय में सही नज़रिया (दृष्टिकोण) पैदा होने की आवश्यकता रहती है। पूजा का मक़सद और तरीक़ा ख़ुद को ख़ुदा यानी अपने से उच्चतर शक्ति या व्यक्तित्व के अधीन और उस की कृपा के अन्तर्गत और उस पर निर्भर होने का सत्य स्वीकार करने से आरम्भ होता है। लोग तुलसी के पौधे या बरगद के पेड़ पर एक लोटा पानी चढ़ा कर अपनी दिनचर्या आरम्भ करते हैं, चाहे कलेण्डर की कोई तसवीर या शालिग्राम की मूर्ति या घर अथवा मन्दिर में स्थापित कोई पत्थर या अन्य प्रतीक, या यादगार, या विशेष रूप से तैयार किसी देवता, अवतार, महापुरुष, पीर, बुज़ुर्ग, गुरु आदि के चित्र या मूर्ति को आदाब बजा कर (सम्मान दे कर) अपनी सफलता की दुआ (प्रार्थना) करते हैं। दूसरे लोग इस साकार सगुण उपासना के बदले श्रेष्ठतर और उच्चतर शक्ति की याद और इबादत को बेहतर तरीक़ा मानते बताते हैं, यहाँ तक कि इसी के लिए लड़ते-मरते हैं। इन सभी तरीक़ों, पद्धतियों में पूजा करने वाला जिस की पूजा करता है, उसे अपने से अलग मान कर उस की सहायता प्राप्त करने की कामना करता है। ग़रज़ और इच्छा, स्कीम या प्रोग्राम ख़ुद का यानी अपना निर्धारित और निश्चित किया हुआ होता है, जिस में दूसरों की मदद माँगी जाती है। बहुधा विभिन्न स्वार्थों और इच्छाओं आदि के बजाय सामान्य रूप में अपने को मालिक के अधीन समझा और बताया जाता है कि 'मैं तो इलाज

करता हूँ, शिफ़ा यानी दुःख से छुटकारा वह देता है।'

इस तरह की सभी तरकीबों और तरीक़ों का मक़सद (उद्देश्य) पूजा तो होता है, लेकिन इन में साक्षात्कार अर्थात् पूजा और इबादत की मक़सद-बरारी (उद्देश्य-पूर्ति) से आमना-सामना नहीं होता। जिस काम या स्वार्थ की पूर्ति में मदद माँगी गई, उसमें सफलता मिली, तो जिस की पूजा की गई उसके सच्चे, जाग्रत, कारआमद, बिगड़ी बनाने वाले आदि होने की घोषणा ज़ोर-शोर से होने लगी; यहाँ तक कि पूजा करने वाले की भी तारीफ़ की जाने लगी। अगर सफलता प्राप्त न हुई, तो मालिक, देवता, ख़ुदा, गुरु आदि को जितना होना चाहिए था, उतना मानूस (प्रसन्न) और मेहरबान (कृपालु) न कर पाना कहा गया, जिस स्थिति में जिस की पूजा की जा रही थी उसे बदलने की ज़रूरत समझी बतायी गयी, या फिर पूजा करने वाले की कोई कमी मान कर उसे ख़ातिरख़्वाह (यथेष्ट) सुधारने की बात अमल-पैरा (कार्यान्वित) करने पर बल दिया गया। बहरहाल इस तरह की पूजा की हैसियत ख़ुशामद, हिकमत या कारगुज़ारी (कार्यदक्षता) वग़ैर ही रहती है। इसे इबादत का दर्जा (पद) नहीं दिया जा सकता। कामियाबी (सफलता) मिलने पर अहंकार और नाकामियाबी प्राप्त होने पर मायूसी (कुण्ठा) ही इसका नतीजा (परिणाम) और माहसल (उपलब्धि) है।

सही तरह की पूजा का आरम्भ, पूजा करने वाले के हृदय में, जिसकी पूजा की जानी चाहिए, उसकी मुनासिब अज़मत (समुचित श्रेष्ठता) की भावना पैदा होने पर होता है। इस का उद्देश्य ख़ुदा-शिनासी (परमात्म-परिचय/साक्षात्कार) के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। अब ख़ुदा की पहचान के लिए पहला क़दम ख़ुद की पहचान है। ज़िन्दगियाँ गुजर जाती हैं, ख़ुद की पहचान नहीं हो पाती, बल्कि इस के लिए सही इच्छा, ज़रूरत, तड़प आदि भी नायाब (अप्राप्त) नहीं तो कमयाब (दुर्लभ) ज़रूर होती है। परमात्म-साक्षात्कार में कामयाब (सफल) होने का उदाहरण अत्यन्न विरल होना अनिवार्य ही कहना चाहिए, क्योंकि वह तो आख़िकार ख़ुद की कोशिश के ख़ुदा द्वारा पूरा किये जाने पर

ही निर्भर है। यह बेशक बहुत आसान है, यहाँ तक कि इस से आसान और कुछ मुमकिन (सम्भव) ही नहीं, लेकिन साथ ही मुश्किल भी इस क़दर कि इस की मिसाल अक्सर शताब्दियों की प्रतीक्षा कराती है।

अतः इस अमर (मामले) में पहला क़दम, ख़ुद की पहचान के लिए रग़बत (उन्मुखता/शौक़) और कोशिश (प्रयत्न) है। इस के लिए भी जिस को ख़ुद से उच्चतर और श्रेष्ठतर स्वीकार करना अनिवार्य है, उसकी कृपा शामिल-हाल (समाविष्ट) होना ही चाहिए, हालांकि इस पर ज़ोर देने से अव्वल (प्रथमतः) तो ख़ुद की रग़बत और कोशिश को छोड़ बैठने की ग़ल्ती सरज़द (घटित) हो सकती है; और दूसरी बात यह कि जिस की बख़्शिश (कृपालुता) हर हालत में मुफ़्त मौजूद है, उस पर यह इल्ज़ाम (आरोप) आयद (लागू) होता है कि वह मेरे प्रति कृपा के मामले में कोताही कर रहा है। यही सींक की ओट पहाड़ का मज़मून (विषय) है। उस की कृपा तो सदैव विद्यमान है, लेकिन ख़ुद को जो कुछ करना है, वह तो किया जाना चाहिए।

जब ख़ुद की पहचान के लिए रग़बत (उन्मुखता/शौक़/अभिरुचि) पैदा हुई, तो फिर इस दिशा में प्रयत्न उचित रूप में आरम्भ होना चाहिए। हमें पता चलता है कि हम शरीर, प्राण, मन, बुद्धि, आत्मा आदि नहीं हैं, लेकिन यह सभी मेरे हैं, जिन पर मैं होने का धोखा होता है। इन सब की मुनासिब देख-भाल, रख-रखाव हमारी ज़िम्मेदारी है। यही बात मकान, जायदाद, घर-परिवार आदि के बारे में भी है। इस तरह हम जो कुछ हैं, और हमारा जो कुछ है, उसमें सही प्रकार का अन्तर स्पष्ट रहने की आदत बन जाने पर हम अपने तमाम कर्त्तव्यों का दक्षतापूर्वक निर्वाह करते हुए, उस सब से अलग रहने लगते हैं। यही ख़ुद की आज़ादी या मुक्ति की हालत और उस से आगे का रास्ता है। यह सब, कहीं पढ़ कर या किसी से सुन कर जानना बताना आदि एक बात है, लेकिन इस का वास्तविक अनुभव असल ज्ञान है, जो हमारे समस्त व्यवहार-व्यापार में अभिव्यक्त होना सही स्थिति है।

जितना ही अधिक और अधिक हम अपनी ख़ुद की असल सत्ता

से रूबरू (आमने-सामने) होते हैं, उतना ही उस तक हमारी रसाई (पहुँच) का रास्ता हमवार (सरल सुखद) होता जाता है। जिस को ख़ुदा या परमात्मा आदि कुछ भी नाम दे लें, वास्तव में हमारा ही अन्तिम और असली रूप है, जिस की पूजा की आवश्यकता समाप्त हो जाती है, क्योंकि वह हर हालत में हर समय हर तरह हमारा अपना शीवा (ढंग/तौर-तरीक़ा/रहनी) और स्वभाव बन जाता है। इस के प्रति बेपनाह (सीमारहित) लगाव पैदा होने का वास्तविक अनुभव पर आधारित विवरण उपलब्ध है कि 'दस्त ब कार व दिल ब यार' (हाथ काम में लगा हुआ और दिल यार के साथ) या 'जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है,' या दूसरे पैराये (संदर्भ) में 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ही ब्रह्म यानी सर्वव्यापी विस्तार हूँ) जिस की व्याख्या (तशरीह) तीन मञ्ज़िलों/गन्तव्यों में प्रस्तुत की गई है : (१) हमामनम् (सभी कुछ मैं है), (२) हमा ओस्त (सभी कुछ वह है) और (३) हमा अज़ ओस्त (सभी कुछ उस से है) इत्यादि। बयान करने में समझने की ग़लती के लिए गुञ्जायश (सम्भावना) रहती है, लेकिन उसी के लिए जो न समझने के लिए ब-ज़िद (हठी/हठधर्मी) हो। जो सब से अधिक आसान है, उसे सब से ज़्यादा मुश्किल बना देना लोगों की ख़ुदी (अहंता) का करिश्मा (चमत्कार) है।

जब ख़ुद की तलाश में ख़ुदी मिटती हुई, हमें ख़ुद की उस हैसियत से हमकिनार (बग़लगीर/सुपरिचित) करती है, जो ख़ुदा-शिनासी (परमात्म-परिचय) कहा जाता है, तो हम ख़ुद ही ख़ुद तक आ पहुँचते हैं। वहाँ 'मैं' और 'वह' का फ़र्क़ ऐसा कुछ माऽदूम (समाप्त) या मद्धिम होता जाता है कि पूजा करने वाला और जिस की पूजा की जाती है या करनी चाहिए, वह अपनी पहचान खोकर अपने को पहचानते हैं।' तब पूजा की ज़रूरत इस तरह ख़त्म हो जाती है कि जो कुछ भी किया जाता है या होता है वह सब पूजा ही रह जाता है, लेकिन जिसे आऽम तौर से पूजा नहीं कहा जाता, क्योंकि सभी साधारण कार्य पूजा ही बन जाते हैं, इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

'यत् यत् कर्म करोमि तत् तदखिलम्
शम्भो तव आराधनम्।'

(मैं जो-जो कर्म करता हूँ, वह सभी, हे शिव, तेरी आराधना है।)

होने और न होने से अलग होना या न होना, पूजा के उद्देश्य और तरीक़ा के बारे में अछूता मज़मून (लेख) है, जो सभी के क़रीब है बल्कि सभी को नसीब, लेकिन सिर्फ़ उसी का हुसूल (उपलब्धि) जो केवल (महज़) उस का हो रहे, यानी उस के ज़रिये अपनाये जाने के लायक़ (योग्य) हो, कि जिस ने यह लियाक़त (योग्यता) हर ख़ास व आऽम (विशिष्ट और सामान्य-जन) के लिए मुफ्त मुहैया (बिना मूल्य उपलब्ध) की है। यह हर किसी को हासिल (प्राप्त) हो।

●●●

मनुष्य : विवेक-विचार

बसन्त पंचमी, १९९७

ईश्वर की सृष्टि में मनुष्य को सबसे ऊँची स्थिति प्राप्त है, क्योंकि सोचने-विचारने और शुभ-अशुभ उद्देश्य (लक्ष्य/चरित्र) और उचित-अनुचित कर्म (साधन/आचरण) का निर्णय कर सकने की योग्यता केवल मनुष्य को प्राप्त है। कोई व्यक्ति सचमुच मनुष्य है या केवल पशु या जानदार प्राणी, इसका मापदण्ड कबीर ने इसी योग्यता को बताया है :

'नर-पशु, गुरु-पशु, त्रिया-पशु, वेद पशु संसार।
मानुस सोई जानिये, जाहि विवेक-विचार।।'

मनुष्य वही है जिसमें सही-गलत, उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ का विवेक/तमीज़ मौजूद और विकसित हो; बाकी सब मनुष्य-शरीर धारण किये हुए पशु मात्र हैं, जो किसी न किसी के बन्धन में गुलामी का बोझ ढोने वाले हैं, चाहे यह दासता या बन्धन किसी व्यक्ति या अपनी ही वासना की हो, यहाँ तक कि गुरु और वेद अर्थात् ज्ञान की विवेक-रहित दासता या बन्धन भी मानवीय हैसियत से नीचे गिराने वाली है।

मनुष्य, जो वास्तव में मनुष्य है, स्वतन्त्र और आत्मनियन्त्रित होना अनिवार्य है। "मानव शब्द की, मानवीय जिह्वा पर, गौरवशाली झनकार पर तो ज़रा ध्यान दो !" (गोर्की) आत्मा मनुष्य का मूल तत्त्व है। शरीर, मन, बुद्धि आदि उपकरण हैं, जिनका उचित उपयोग और रखरखाव आत्मा द्वारा होना चाहिए। यही मोक्ष की स्थिति आध्यात्मिक साधना का न्यूनतम लक्ष्य है। बुद्धि ज्ञान का साधन या स्रोत है। वह जब मन को वासनाओं के बन्धन से मुक्त करके आत्मा

और उससे भी आगे परमात्मा की ओर उन्मुख कर पाती है; तभी आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति का आरम्भ हो पाता है, जिसकी प्रमुख पहचान भय और लालच से मुक्त होना ही हो सकता है, और होना चाहिए। जो ज्ञान या गुरु इसमें सहायक नहीं, वह आदमी को अपना बोझ ढोने वाला जानवर ही बना डालते हैं। इस तरह की दासता या उससे मुक्ति का रास्ता चुनने की जिम्मेदारी आदमी की अपनी है, जिसको ईश्वर या प्रकृति की ओर से विचार और विवेक से सम्पन्न बुद्धि प्राप्त हुई है। सड़क पर गड्ढे न हों, यह सड़क बनाने वालों और सड़क के रखरखाव करने वालों का उत्तरदायित्व भले ही हो, पर गड्ढे में गिरने या उससे बचने की जिम्मेदारी सड़क पर चलने या वाहन चलाने वाले की ही रहेगी।

अब यह कहा जा सकता है कि भक्ति और खासकर गुरुभक्ति को आध्यात्मिक साधना का श्रेष्ठतम साधन कहा गया है। इस नुस्खे का सहारा लेकर विद्या और बुद्धि को गालियाँ देने वाले अपने को श्रेष्ठ साधक समझने वाले शिष्यों और उन्हें गुरु-पशु या वेद-पशु बनाकर अपने क्षुद्र सांसारिक स्वार्थों की सिद्धि में लिप्त गुरुओं की कमी नहीं। यह दोनों तरह के लोग न केवल अपनी आक़बत् (परमार्थ) बिगाड़ लेते हैं, बल्कि आध्यात्मिक साधना और परमार्थ या परमात्मचिन्ता को भी बदनाम करते हैं। इसी तरह के व्यापार की बदौलत अध्यात्म और ब्रह्म-विद्या साधारण बुद्धि के नागरिकों और श्रेष्ठ बुद्धि सम्पन्न वैज्ञानिकों और विद्वानों के लिए उपेक्षा और घृणा का विषय बन गए हैं। यह किसी हद तक ठीक भी है। आध्यात्मिक साधना से दूर रहना गलत आध्यात्मिक साधना अपनाने से निःसन्देह कम ख़तरनाक है।

भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ साधन की प्रतिष्ठा अवश्य प्राप्त है; किन्तु श्रेष्ठ भक्ति ज्ञान से ऊपर हैं न कि उससे नीचे। श्री रामानुजाचार्य ने ज्ञान से श्रेष्ठ भक्ति या प्रेम की बहुत अच्छी व्याख्या की है कि वह परमतत्त्व की वास्तविक अनुभूति से पैदा होती है, और उस प्रियतम परम तत्त्व या परमात्मा के प्रति अनन्य प्रणति या दासता की अत्यन्त सरस उदात्त भावना को जन्म देती है, जो प्रियतम का दान होती है

न कि प्रेमी की अपनी उपलब्धि। सच्ची भक्ति बहुत कमयाब अर्थात् विरल है, जिसकी महिमा श्रेष्ठतम सूफी संतों ने बयान की हैं। गुरु भक्ति श्रेष्ठ अवश्य है, लेकिन भारत की गँवार भाषा में कहावत है कि, "गुरु को जान समझकर अर्थात् ज्ञान के श्रेष्ठतम स्तर पर अपनाया जाना चाहिए।" यह बात अलग है कि किसी सौभाग्यशाली को सच्चा गुरु किसी तरह की समझ और परीक्षा के बिना ही मिल जाये; लेकिन इस अपवाद को हर गुरु-शिष्य सम्बन्ध पर लागू नहीं किया जा सकता। चालाक गुरुओं और गुरु-पशु शिष्यों ने इसी तरह की नीचता और मूढ़ता के द्वारा अध्यात्म विद्या को बदनाम किया है।

अध्यात्म साधना और ट्रेनिंग के क्षेत्र में श्रेष्ठ गुरुओं की सतत् परम्परा की आवश्यकता का महत्त्व अवश्य है। इसकी आड़ में स्वार्थी चतुर व्यक्तियों द्वारा अंधे अनुयायियों की मूढ़ता का लाभ प्राप्त करने से वास्तविक श्रेष्ठ सद्गुरु और अध्यात्म विद्या दोनों की बदनामी अनिवार्य है। इसके लिए अभ्यासियों का सतर्क विवेक का सहारा लेना एक मात्र उपयुक्त उपाय है। इसके लिए समुचित लक्ष्य की सुस्पष्टता और उसके प्रति अनन्य लगाव ही अनिवार्यतः सहज साधना है। समर्थ सद्गुरु अर्थात् परमात्मा की कृपा का भी महत्त्व अवश्य है; किन्तु इस सन्दर्भ में कहावत प्रसिद्ध है कि इस प्रकार की 'सहायता उसी का भाग होती है, जो स्वयं अपनी सहायता करने में सक्षम हो'। ऐसा साहस और सौभाग्य सभी को प्राप्त हो !

●●●

समर्थ सद्गुरु : वास्तविकता और उत्तराधिकार

(३० अप्रैल, १९६७)

अध्यात्म और ब्रह्मविद्या के क्षेत्र में वास्तविक दक्षता सम्पन्न सद्गुरु के प्रतिनिधि की आवश्यकता से सम्बन्धित समस्या निःसन्देह काफी जटिल रही है। इस्लाम के पैगम्बर से पहले के महान् सद्गुरुओं के उदाहरणों में यह इतने प्रखर रूप में नहीं दिखाई पड़ती है। इस्लाम की परवर्ती सूफी सरणियों में अध्यात्म और उस से आगे के क्षेत्रों में सूक्ष्म और प्रभावकारी प्रशिक्षण के हित में जीवित सद्गुरु के उत्तराधिकार के सातत्य पर सर्वाधिक बल प्रदान किया गया है।

अतएव, एक तरफ तो, वास्तविक दक्षता सम्पन्न सद्गुरु के स्थान पर उत्तराधिकारी के रूप में किसी जीवित व्यक्ति की आवश्यकता को नितान्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। कहा यह जाता है कि किसी पद्धति के अनुयायियों को ऐसे जीवित व्यक्ति की क्षमता और योग्यता का विचार करने से कोई सरोकार नहीं, यदि यह साबित हो जाये कि वास्तविक दक्षता सम्पन्न सद्गुरु ने अपने देहावसान के बाद के लिए उसे अपना प्रतिनिधि/उत्तराधिकारी नामांकित (नियुक्त) किया है। यह अजीब लगता है कि जो सद्गुरु अब जीवित नहीं है उन की बुद्धिमत्ता में पूर्ण विश्वास के नाम पर तथाकथित उत्तराधिकारी की क्षमता और योग्यता से वे सब लोग कोई सरोकार न रक्खें जो सद्गुरु के पास उन की क्षमता और योग्यता के कारण आये थे। जीवित सद्गुरु विषयक उन्माद निकृष्ट कोटि के अन्धविश्वास की ओर ले जाता है जिस की पराकाष्ठा के रूप में अध्यात्म विद्या और उसके वास्तविक दक्षता सम्पन्न सद्गुरु की अवमानना होना निश्चित है।

अतः दूसरी तरफ वास्तविक दक्षता सम्पन्न सद्गुरु के देहावसान के बाद भी केवल उनके प्रति ही लगाव पर बल दिया जाता है। यह भी अत्यन्त भ्रामक हो सकता है और इसकी पराकाष्ठा प्रभु ईसा मसीह, या महात्मा बुद्ध या भगवान् कृष्ण आदि से सीधा प्रशिक्षण प्राप्त करने का दम भरने में होगी, जोकि सामान्य कोटि के आध्यात्मिक साधकों के लिए लगभग असम्भव है। उनके लिए अध्यात्म एवं उसके आगे यथेष्ट और दक्षतापूर्ण मार्ग दर्शन के हित में जीवित सद्गुरु की आवश्यकता रहती ही है।

तो फिर, इस विषम परिस्थिति का समाधान क्या है ? आध्यात्मिक लक्ष्य (ध्येय/गन्तव्य) और उससे भी आगे अन्वेषण और सम्प्राप्ति/अर्जन के आकाँक्षी जन को अपने मन में यह सुस्पष्ट कर लेना चाहिए कि वे क्या खोज रहे हैं और क्या प्राप्त करना चाहते हैं। उन्हें अपने लक्ष्य की प्राप्तिके लिए किसी को मार्गदर्शक के रूप में प्राप्त और स्वीकार करना होता है, जो उन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति में सहायता प्रदान कर सके। स्वास्थ्य, सम्पत्ति और सन्तान आदि के आकाँक्षी और अन्वेषक अपनी आवश्यकताओं और अपेक्षाओं के अनुसार चिकित्सक/उपचारक, व्यापारिक प्रबन्ध के पाठ्यक्रम अथवा स्त्री रोग (प्रजनन प्रक्रिया) विशेषज्ञ आदि के पास जा सकते हैं। अध्यात्म और उसके आगे भी जो कुछ है, वह आत्मा और ईश्वर या परम निरपेक्ष सत् के साक्षात्करण के लिए है और होना चाहिए। अध्यात्म और दिव्य लक्ष्यों एवं उद्देश्यों की प्राप्ति के मार्ग में भौतिक उपलब्धियाँ और लाभ भी हो सकते हैं, किन्तु ये गौण हैं; न कि प्रमुख लक्ष्यवेध के केन्द्र बिन्दु। लोग न केवल यह भूल जाते हैं बल्कि बहुधा जानबूझ कर आध्यात्मिक और दिव्य उद्देश्यों को भौतिक/पार्थिव लाभ के साधन के रूप में उपयोग करना चाहते हैं। ऐसे कुटिल स्वार्थनिष्ठ व्यक्ति निश्चित रूप से अध्यात्म और ब्रह्मविद्या के उत्कृष्ट विज्ञान/विद्या का अधः पतन करते हैं और वास्तविक क्षमता और दक्षता सम्पन्न सद्गुरु के नाम और कीर्ति को अपूर्णनीय हानि पहुँचाते हैं।

अध्यात्म की इस्लामी परम्परा आदि द्वारा प्रतिनिधित्व और

उत्तराधिकारी पर बल कैसे भी सही, सदुद्देश्यपूर्ण रहा था। इसका लक्ष्य सन्धान उन वास्तविक दक्षता और विशुद्ध सामर्थ्य से सम्पन्न सद्गुरुओं के मूल्यवान योगदान का सातत्य निरूपण और संरक्षण था, जिन्होंने अध्यात्म और ब्रह्मविद्या के क्षेत्रों में, गन्तव्यों की उपलब्धि और उद्देश्यों की सम्पूर्ति के निमित, उन्नत और संशोधित पद्धति का सफल प्रतिपादन करके उस की आधारशिला स्थापित की। यदि चतुर चालाक स्वार्थपरायण दावेदारों और स्वार्थी प्रयोजनों और उद्देश्यों के क्षुद्रतर अनुगामी, उनके उत्साही अन्ध समर्थकों और अनुयायियों द्वारा उत्तराधिकार एवं प्रतिनिधित्व की आवश्यकता को पार्थिव सम्पत्ति और गुटबाजी से सम्बन्धित विवादों और दावों में परिणत/अवनत किया जाये तो ऐसी स्थिति के लिए उन स्वार्थी दावेदारों को दोषी ठहराना होगा न कि उत्तराधिकार/प्रतिनिधित्व की पद्धति को।

इसमें सन्देह नहीं कि वास्तविक दक्षता सम्पन्न कोई बहुत ही सौभाग्यशाली सद्गुरु प्रशिक्षण और ज्ञान की वास्तविक परम्परा के समुचित संवर्द्धन के निमित्त ऐसा यथार्थ रूप से समर्थ उत्तराधिकारी प्रतिनिधि प्राप्त करता है जिस के द्वारा प्रशिक्षण और ज्ञान की उस परम्परा को प्रोन्नत एवं अग्रसर किया जा सके जो कि अध्यात्म और उस से आगे के विज्ञान और विद्या के साम्राज्य की धुरी है। सिद्धांत एवं व्यवहार की इस उत्कृष्ट पद्धति (योग विद्या) का इतिहास इस तथ्य का साक्षी बना खड़ा है कि परमहंस रामकृष्ण पर्याप्त सौभाग्यशाली सिद्ध हुए कि उन्हें स्वामी विवेकानन्द प्राप्त हुए, जब कि वे (स्वामी विवेकानन्द) स्वयं इस विषय में अपनी बारी में वैसा सौभाग्य नहीं प्राप्त कर सके।

यह पूछा जाना सर्वथा उचित है कि वास्तविक दक्षता सम्पन्न सद्गुरु के वस्तुतः सच्चे उत्तराधिकारी की पहचान का मापदण्ड क्या है ! इस पूछताछ का खरा जवाब यही है कि शारीरिक रूप से दिवंगत सद्गुरु के जीवित प्रतिनिधि के रूप में अपने को प्रतिष्ठित करने की चिन्ता के बजाय, वास्तविक उत्तराधिकारी वैयक्तिक रूप में स्वतः मृत हो जाता है ताकि दिवंगत सद्गुरु को काम करने के लिए

जीवित रख सके और प्रशिक्षण एवं ज्ञान की पद्धति (विद्या) को आगे और उससे भी आगे ले जा सके। वास्तव में पद्धति और योगदान ही जीवित रहता है और आगे बढ़ता जाता है। वास्तविक हैसियत के सद्गुरु और ऐसे सद्गुरु का वास्तविक प्रतिनिधि दोनों ही उत्कृष्ट विषय अर्थात् अध्यात्म और उससे आगे जो कुछ है उस विज्ञान/विद्या और पद्धति की प्रगति के उपकरण होते हैं।

वास्तविक हैसियत के सर्वोपरि सद्गुरु के प्रतिनिधित्व के महत्त्वाकांक्षी सदा ही विद्यमान रहे हैं। अपनी इस आकाँक्षा की सम्पूर्ति के निमित्त उन्हें क्या करना है ? अपनी भूमिका में उन्हें सद्गुरु की याद को जीवित रखने के लिए केवल अपने आप को भूल जाना है। इस वास्तविक प्रसंग में बाकी सभी कुछ इस उत्कृष्ट विज्ञान/विद्या की शाश्वत परम्परा के सहज प्रतीक के रूप में वास्तविक हैसियत के सद्गुरु को ही करना रहता है। सारी कठिनाइयाँ तभी प्रस्तुत होती हैं जब जीवित और मृत सद्गुरु का सम्भ्रम प्रवृत्त/प्रचलित होता है। यह स्पष्टतः समझ लेना ही है कि सद्गुरु न तो कभी मरता है और न जीवित होता है क्योंकि वह एक व्यक्ति विशेष नहीं हैं बल्कि वास्तविक अवस्था (दशाविशेष) है जिसे पहचानना/स्वीकारना और प्राप्त (प्रत्यक्षीकृत) करना है यह केवल अपने को भूल जाने और अपेक्षित स्तर पर जो कुछ अपेक्षित है वही करने से सम्भव है।

अन्ततः आत्मविस्मृति, आत्मोत्सर्ग/स्वनिषेध, भक्ति, समर्पण आदि के रूप में वर्णित इस स्तर का अभ्यास और ज्ञान ही यथार्थ गन्तव्य मंजिल का एक मात्र मार्ग रहा है। यह सौभाग्य, सचमुच किसी प्रकार की शक्ति के माध्यम से नहीं, अपितु उस एक मात्र यथार्थ लालित्य सम्पन्न सत्ता के लालित्य (कृपा) के प्रति अविकल प्रतीक्षा के माध्यम से ही सुलभ है :

'ईं सआदत बजोरे बाजू नेस्त गर न बख़्शद ख़ुदा ए बख़्शिन्दा'

(यह सौभाग्य किसी प्रकार के बाहुबल द्वारा प्राप्त होना सम्भव नहीं है यदि प्रदायक परमात्मा (अकारण) प्रदान न करे।)

यह सचमुच समस्त सकारात्मक और नकारात्मक स्वत्वाग्रह, विवरण, यहाँ तक कि अवधारणा (समझ) की सीमा से भी परे है। लेकिन यह मनुष्य की पहुँच के बाहर नहीं है। यह कारण–कार्य समरूपताओं की पकड़ (ग्रहण शक्ति) की सीमा-परिधि से बाहर भले ही हो; और इस प्रकार विज्ञान की सामान्य परिभाषा बल्कि विज्ञान और वैज्ञानिक अध्ययन पद्धतियों की श्रेष्ठतम अवधारणाओं का अतिक्रमण करती हो, किन्तु फिर भी इस का निर्माण मानवीय उपगमन (प्रवेश पथ) के रूप में ही हुआ है। इसके अपेक्षित तत्त्व (शर्तें/अस्थिर उपादान) नितान्त विरल और कितना ही दुष्प्राप्य (असुलभ) भले ही क्यों न हों; किन्तु अपने ही सर्वोपरि अस्तित्व के मार्ग पर आगे बढ़ने वाले मानव के लिए 'सम्भव' की परिधि से बाहर कदापि नहीं। उस (परम समर्थ) के सभी प्रियजन को यह सौभाग्य सुलभ हो।

●●●

अध्यात्म विज्ञान : परम्परा और भविष्य

(पेरिस, बसन्त पंचमी, १९९८)

भारतवर्ष में फतेह गढ़ (उत्तर प्रदेश) के निवासी परम पूज्य महात्मा राम चन्द्र जी द्वारा, अपने आप में एक सुनिश्चित विज्ञान के रूप में अध्यात्म के विकास के एक नये युग का उद्घाटन किया गया। आप ने इस परम श्रेष्ठ विज्ञान के क्षेत्र और विषय-वस्तु की एक सुस्पष्ट परिभाषा प्रतिष्ठित की, जो कि प्रत्येक मानव प्राणी को स्वप्नशून्य सुषुप्ति की अवधि में, शारीरिक एवं मानसिक क्रिया शीलता से आगे की स्थिति में, आत्मा की चेतना की आनन्दमय अन्तरानुभूति के रूप में उपलब्ध है।

यह सम्पूर्णतः तनाव रहित संतुलित सामंजस्य का ऋजु आन्तरिक अनुभव, जागृति और स्वप्न के स्तरों की चेतनता के ज्ञान और क्रिया के उपकरणों की ग्रहण-क्षमता (पकड़) के परे (आगे), सर्वथा यथार्थ है। अतएव, इन्द्रियों-भावनाओं-संवेगों-बिम्बों-प्रत्ययों-युक्तियों—यहाँ तक कि स्वतः स्फूर्त समस्या समाधान—और सामान्य एवं असामान्य वैयक्तिक और सामाजिक मनोविज्ञान की श्रेणी/सरणियों की भी भाषा के माध्यम से, इस स्वात्मानुभूति का केवल निषेधपरक (नेति-नेति) विवरण ही प्रस्तुत किया जा सकता है।

परन्तु स्वप्नरहित निद्रा/सुषुप्ति के समय चैतन्य के साथ ऋजु (सीधा) सम्पर्क प्रत्येक मानव-प्राणी के लिए भावात्मक होता है, यद्यपि इसे 'शून्यता' या 'कुछ नहीं' के रूप में ही वर्णन करना सम्भव है। अन्तरानुभूति के अन्तरानुभव का यह भावात्मक पक्ष ध्यान की प्रविधि द्वारा उपलब्ध है, जो अन्वेषण और अनुसन्धान के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक उद्देश्य के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है; और यही अध्यात्म विज्ञान का समुचित कार्यक्रम है।

फ़तेहगढ़ (उत्तर प्रदेश, भारत) के निवासी समर्थ सद्गुरु महात्मा राम चन्द्र जी का परम प्रशंसनीय योगदान, उन के प्रमुख शिष्य, शाहजहाँपुर (उत्तर प्रदेश, भारत) के निवासी समर्थ सद्गुरु श्री राम चन्द्र जी द्वारा श्रेष्ठतम दक्षता पूर्वक अग्रसारित/प्रवर्द्धित हुआ है, जिन्होंने नितान्त द्वयर्थकता रहित घोषणा की है कि वह सम्पूर्ण मानवता की धरोहर है; और उन का कार्य शिष्य खोजना नहीं किन्तु श्रेष्ठ सद्गुरुओं का निर्माण करना है। अगले वर्ष उन की जन्म-शताब्दी मनाई जा रही है।

मानव सभ्यता के ईसाई युग/सम्वत्सर की बीसवीं शताब्दी की समाप्ति और इकीसवीं शताब्दी के आरम्भ के समय, हम मानवता के भविष्य के मैदान में नये प्रगतिशील क़दम बढ़ाने को उद्यत खड़े हैं। हमारे लिए इस दिशा में सब से अधिक महत्त्वपूर्ण चरण, विज्ञान के रूप में अध्यात्म का अपने आप में सुनिश्चित विकास है, जो अन्य समस्त विज्ञानों और विद्याओं के सहयोग और सातत्य में, किन्तु उनसे स्पष्टतः भिन्न रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करे।

अध्यात्म विज्ञान/विद्या के प्रति दो समर्थ सद्गुरुओं के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान का संरक्षण और प्रवर्द्धन, पृथ्वी पर मानव के अस्तित्व एवं विकास के इतिहास के युगों की आशाओं और आकाँक्षाओं की परिपूर्णता के हित में आवश्यक है। उपर्युक्त दो समर्थ सद्गुरुओं द्वारा प्रतिष्ठापित और प्रवर्द्धित योग के सिद्धान्त और अभ्यास की पद्धति/सरणि के प्रति जो लोग सम्पृक्त हैं, और ऐसा अनुभव करते हैं, उन सभी का उक्त लक्ष्य-सन्धान के प्रति एक कर्त्तव्य है, और होना चाहिए।

योग विज्ञान/विद्या की अति पुरातन परम्परा, मानवता के इतिहास में, सभी प्रकार के जाति, वर्ग/सम्प्रदाय एवं राष्ट्रीयता आदि के कृत्रिम प्रभेदों से ऊपर (परे), सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक अनुसन्धान के इस श्रेष्ठ विषय के सर्वथा स्वार्थरहित समर्थ सद्गुरुओं द्वारा अग्रसारित और प्रवर्द्धित की गई है। समर्थ सद्गुरु की कृपा के अधीन, सभी प्रकार के सम्भ्रमकारी विवादों से परे (अलग), यह परम्परा, मानव जाति के गौरवशाली भविष्य के लक्ष्य-बिन्दु तक प्रगति प्राप्त करे।

समर्थ सद्गुरु एक व्यक्ति नहीं, किन्तु काल एवं परिवर्तन की समस्त अनिश्चितताओं से ऊपर (परे) एक शाश्वत सिद्धान्त है। प्रकृति को, भौतिक (शारीरिक) इदन्ता (इयत्ता) में, समर्थ सद्गुरु के प्रतिनिधित्व के आविर्भाव की प्रतीक्षा करनी होती है। ऐसे प्रस्तुतिकरण एवं प्रतिनिधित्व, विज्ञान के रूप में अध्यात्म की परम्परा के अन्तर्गत, आविर्भावों की आकाश गंगा का निर्माण करते हैं, जिन्हें मरोड़ कर, दबा कर या पुचकार कर नियन्त्रित कर सकना सम्भव नहीं होता है। यह परम तत्त्व की स्वच्छन्द समीहा का क्षेत्र किसी नियम को नही पहचानता है; और इस रूप में उसे विज्ञान की परिधि के बाहर होना चाहिए, जैसा कुछ हमें आज विज्ञान के विषय में पता है। स्वच्छन्द समीहन, 'विज्ञान' और 'नियम' के इस प्रत्यय से भी स्वतन्त्र स्थित है।

तो फ़िर, जहाँ तक मानवता के इतिहास में, युगों की श्रृखंला के अन्तर्गत, अध्यात्म विज्ञान की परम्परा के सातत्य की समस्या है, वहाँ निरपेक्ष परम तत्त्व की स्वच्छन्द समीहा के लिए किसी प्रकार के प्रतिबन्ध की भी अनिवार्यता शेष नहीं रह जाती है। हम, जो कुछ आवश्यक है, करें और मानवता के गौरवशाली भविष्य के प्रति, समर्थ सद्गुरु के शाश्वत सतत्-प्रवाहित आशीषों के अन्तर्गत, परम तत्त्व की सर्व-समर्थता के प्रति विश्वास श्रद्धा से सम्पन्न बने रहें।

समर्थ सद्गुरु की अगाध अनुकम्पा, उनके प्रियजनों को, उस शाश्वत प्रकाश की मशाल को, मानव-इतिहास की पीढ़ियों से हस्तान्तरित अविकल (असली) अध्यात्म विज्ञान की गौरवपूर्ण परम्परा की आकाँक्षाओं की सम्पूर्ति के लक्ष्य बिन्दु तक, वहन करने का सामर्थ्य प्रदान करे !

सर्व-समर्थ प्रभु का दैविक विबोध, मानवता और उसके भी परवर्ती भविष्य के विषय में उन की योजना और उद्देश्य की पूर्णता के युग के उषःकाल का उद्घाटन सम्पन्न करे !!

●●●

परलोक : यथार्थ अनुभूति

(३० अप्रैल, १९९८)

दुनिया (इहलोक) और उक़बा (परलोक) का फ़र्क़ (अन्तर) अध्यात्म (रूहानियत) के इल्म (विद्या) के इलाक़े (क्षेत्र) में काफी मशहूर (अत्यन्त प्रसिद्ध) है। अक्सर (बहुधा) इन दोनों के फ़र्क़ (भेद) और रिश्ते (सम्बन्ध) को तशबीह (उपमा) और इस्तेऽआरे (रूपक) की मदद से शायराना अन्दाज (काव्यात्मक शैली) में बयान किया गया है। कबीर साहब की तशरीह (व्याख्या) काफ़ी मशहूर है : 'वह दुनिया मोरे बाबुल का घर, यह दुनिया ससुराल'!

अमूमन (सामान्यतः) यह दुनिया माद्दी (भौतिक) वजूद (अस्तित्व) में फैली हुई और उसी से तऽल्लुक रखने वाली सम्बद्ध समझी जाती है, जिस का पता हवास ख़म्सा (पाँच ज्ञानेन्द्रियों) से हासिल (प्राप्त) होता है। वह दुनिया रूह (आत्मा) और खुदा (परमात्मा) के बारे में मानी और समझी जाती है, जो माद्दियत (भौतिकता) और जिस्मानियत (शारीरिकता) से बऽईद (अलग) कही और मानी जाती है, और उस में दाख़िला (प्रवेश) मौत के बाद ही सम्भव माना जाता है।

रूहानियत को एक इल्म (विद्या) की तरह समझने और पेश (प्रस्तुत) करने की कोशिश और जिद्दत (नवस्फूर्ति) अपने जाती तजुर्बात (व्यक्तिगत अनुभव/प्रयोग) की बिना (नींव) पर अक़्ल व ख़िरद (बुद्धि और समझ) के दायरे (वृत्त) में होनी चाहिए। इस विद्या के आऽलातरीन (श्रेष्ठतम) समर्थ सद्गुरुओं ने ऐसी ही कोशिशें की हैं, जिस में सफलता कितनी किसे मिली, यह अलग मसला (विषय) कह सकते हैं।

परलोक का अपने एहसास (अनुभव) के स्तर पर गहरी नींद (सुषुप्ति) के दौरान (समय) मौजूद रहना सभी के लिए आऽम हक़ीक़त

(सामान्य सत्य) है। अगर 'वह दुनिया' मौत के बाद की हालत कही जाती है, तो ग़ैर-ख़्वाबीदा गहरी नींद (स्वप्नरहित सुषुप्ति) को आधी मौत कहा जाता है। ध्यान (मराक़िबा) का, इस दुनिया में उस दुनिया का सीधा एहसास हासिल करने के आऽला-ए-कार (उपकरण) के रूप में, इस्तेमाल (प्रयोग) किया गया है।

अतः (लिहाज़ा) तथाकथित परलोक उतने कुछ राज (रहस्य) की बात नहीं है। दिक्क़त (कठिनाई) सारी भौतिक अस्तित्व (माद्दी हस्ती) के तईं (प्रति) अनुचित मोह/तादात्म्य (नाज़ेबा उन्स) के कारण पैदा होती है, जबकि सभी लोग निश्चित (यक़ीनी) तौर पर जानते हैं कि इहलोक नापायदार (अशाश्वत) है। परलोक सीधे अनुभव के लिए प्राप्त रहते हुए भी, उसको इहलोक की अनुभूतियों (एहसासात) में तर्जुमा (अनुवाद) करने की मज़बूरी (विवशता) ही एक ज़बर्दस्त (विकट) पर्दा है।

हम सभी भौतिक सीमाओं (माद्दी हुदूद) में ज़िन्दगी बसर (जीवनयापन) कर रहे हैं। तो फिर यह स्वाभाविक है कि हम आऽक़िबत (परलोक) के हुसूल (उपलब्धियों) को दुनियावी नुफ़ाद (इहलौकिक लाभ) के पैमानों (मापदण्डों) पर नापने की ज़िद (हठ) करें; और शुद्ध पारलौकिक लाभ (ख़ालिस रूहानी फ़ायदा) को कपोलकल्पित (ख़्वाब-व-ख़याल) मानें और कहें। यह आऽम आदमी (सामान्य जन) की आज की मज़बूरी है, जिसे फटकार से नहीं बल्कि हमदर्दी (सहानुभूति) द्वारा निपटाना चाहिएं।

आख़िरकार (अन्ततोगत्वा) इस दुनिया और उस दुनिया में एक दूसरे से पूरी तरह उल्टे होने का रिश्ता (सम्बन्ध) मानना ग़लत हैं। मोक्ष की स्थिति (मुकम्मल आज़ादी की हालत) में भी खाने, सोने आदि का बन्धन तो निभाना ही पड़ता है, और हर समय खाने सोने के लिए परेशान (आतुर) मनुष्य में भी दूसरे के लिए अपने सुख के बन्धन से मुक्ति हासिल करने की आवश्यकता का एहसास आज नहीं तो कल जागता ही है। इसी सन्तुलन (तवाजुन) को दोनों पंखों की सहायता से चिड़िया के उड़ने से तशबीह (उपमा) दी जाती है।

इस तरह व्यावहारिक (अमली) संदर्भ (पैराये) में संसार (दुनिया) और परमार्थ (आख़िरत) एक दूसरे के मुतज़ाद (व्याघातक) नहीं है। सिद्धान्त (उसूल) के क्षेत्र (ज़ुमरे) में फिर भी दोनों में फ़र्क़ (भेद) ज़रूर (अवश्य) रहेगा। यह फ़र्क़ मानवता (इन्सानियत) के लिए अहम् (महत्त्वपूर्ण) है और रहेगा। हर इल्म (विद्या) का अपना एक ख़ास (विशिष्ट) क्षेत्र (इलाका) है; और उसके अपने आदर्श (आइडियल) हैं, जिन्हें हासिल करने के लिए अभ्यास (मश्क़) लगन और कोशिश-मेहनत वगैरः की ज़रूरत रहेगी। इस बारे में समझौता नहीं हो सकता, न ही होना चाहिए। अपनी अपनी जगह सबकी अहमियत है सही, लेकिन चोटियों की चढ़ाई हर किसी के लिए नहीं होती।

मुख़्तसर तौर पर (संक्षेपतः) अध्यात्म और ब्रह्म-विद्या (रूहानियत और हक़्क़ानियत) को उस के वास्तविक स्वरूप (असली शक्ल) में बिना लाग-लपेट प्रस्तुत (पेश) किया जाना नितान्त आवश्यक (लाजिम महज़) है। सूरते-हाल (वस्तुस्थिति) की साफ़ गोई (स्पष्ट कथन) पर बल (ज़ोर) दिया जाना चाहिए। भाषा (ज़ुबान) की अपनी सीमाएं और पेचीदगियाँ होती हैं और रहेंगी। 'खुद को पाने का तरीका खुद के खो जाने में है' निहायत सादी (सरल) उक्ति है, जिस की व्याख्या (तशरीह) में ग्रन्थ रचे गये हैं और रचे जा सकते हैं।

अध्यात्म (रूहानियत) का एक सुस्पष्ट सुव्यवस्थित विज्ञान के रूप में विकास और प्रतिष्ठा आज की मानव-संस्कृति की प्रमुख आवश्यकता है। इस का इतिहास रोचक है, किन्तु किसी भी विज्ञान के व्यवस्थापन में उस के क्षेत्र, स्वरूप, मूलप्रत्यय, अध्ययन-पद्धति, नियमों और सिद्धान्तों के अन्वेषण आदि का मौलिक महत्त्व होता है, समर्थ सद्गुरु का इस संदर्भ में समुचित दिशा-निर्देश उन के प्रियजनों का मार्ग प्रशस्त करें ! ऐसा ही हो !!

●●●

अध्यात्म शती : सिंह द्वार

(बसन्त पञ्चमी, १९९९)

आध्यात्मिक साधना, किसी भी अन्य सक्रियता की तरह, उपेक्षा और अनुचित आसक्ति के दुहरे खतरों का शिकार होती है। एक ओर उसे अनावश्यक समझ कर उपेक्षित किया जा सकता है; और दूसरी ओर वह अनुचित रूप से रूढ़ कर्मकाण्ड परायण और व्यर्थ बन सकती है। वैयक्तिक और सामुदायिक जीवन के हित में, उसके समुचित विकास और समायोजन के लिए निरन्तर जागरूकता और निर्देशन की आवश्यकता रहती है।

अतः हमें आध्यात्मिक सक्रियता के विषय में क्या, क्यों और किस वास्ते (कैसे) के प्रश्नों के प्रति सुस्पष्ट हो कर आरम्भ करना होगा। यह काफ़ी नहीं है कि हम परम्परागत या आधुनिकता परायण सजधज के अनुसार हमारे चारों और प्रचलित होने के कारण कुछ करते रहें। हमें यह प्रश्न उठाना ही होगा कि हमारे और हमारी आवश्यकताओं और माँगों के संदर्भ में, यहाँ और अभी, क्या प्रासंगिक है। यह अपने स्वयं के प्रति हमारा न्यूनतम ऋण (कर्त्तव्य) है। इस प्रकार हम अपने आधारभूत अस्तित्व के मूल में, शरीर और मन से आगे, आत्मा और परमात्मा की सूक्ष्म सत्ता को स्वीकार करने की स्थिति में पहुँचते हैं।

हमारी चेतनता की जागृत और स्वप्न की अवस्थाओं से आगे, सहज सुखद नैसर्गिक निद्रा की स्थिति में हर मानव प्राणी को, शरीर और मन के परे, आध्यात्मिक सत्ता की यथार्थता का सीधा अनुभव प्राप्त होता है। अपनी वैयक्तिक सत्ता के अप्रत्याख्येय (जिस का प्रत्याख्यान/इनकार सम्भव न हो) मूल तत्त्व का साक्षात्कार, ध्यान के अभ्यास द्वारा प्राप्त करना होता है, जो कि जीवन और जगत् के

समस्त संक्षोभ (परेशानी/हलचल) के मूल मे स्थायी रूप से विराजती शान्ति और संतुलन की अवस्था तक पहुँचने का एक मात्र सुनिर्मित मार्ग है। यही आध्यात्मिक साधना का सुप्रतिष्ठित आधार है।

यथार्थता के अपने स्वरूप के अन्तः प्रत्यक्ष तक ले जाने वाली तनावरहित स्थिति के स्वभाव वाली भारहीन शान्ति के आध्यात्मिक परिमण्डल में प्रगति के अमोघ उपकरण के रूप में प्रयोग करने के निमित्त, ध्यान को, अनेक विधि निर्देशन की आवश्यकता रहती है। क्षेत्र-विशेष के अभिनव लक्षण को, अपरिहार्य रूप से, ऐसे शिक्षक अर्थात् सद्गुरु की सहायता की माँग करना ही होती है, जो स्वयं चल कर वास्तविक मार्ग से परिचित हो चुका हो; और साथ ही, लक्ष्य तक यात्रा पर उत्तरोत्तर आगे ले जाने में, दूसरों की सहायता कर सकने का सामर्थ्य प्राप्त कर चुका हो।

इस क्षेत्र के सुयोग्य पथ प्रदर्शक का एक विशिष्ट गुण यह होता है कि अपने संरक्षित विद्यार्थी/अभ्यासी को इच्छा/समीहा की शक्ति हीन शक्ति के उपयोग द्वारा, इस सावधानी के साथ कि वह सम्मोहन/वशीकरण के रूप में परिभ्रष्ट हुए बिना, आध्यात्मिक स्थितियों की अनुभूति प्रदान करने की क्षमता/दक्षता और प्रविधि का उपयोग कर सके। यह विशिष्ट क्षमता एवं प्रविधि, आध्यात्मिक प्राणाहुति कहलाती है; और तुलना की दृष्टि से शिक्षण/प्रशिक्षण के अन्य क्षेत्रों के शिक्षक-प्रशिक्षण-पाठ्यक्रम के समकक्ष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

अध्यात्म और ब्रह्म विद्या, सम्पूर्ण मानवीय इतिहास में, विशिष्टतः भारतवर्ष की धरती पर, विभिन्न सरणियों/पद्धतियों के अन्तर्गत, स्थायी और सतत् अभिरुचि एवं अनुसन्धान के विषय रहे हैं। सुयोग्य सद्गुरुओं ने, जो भारत तक परिसीमित नहीं है, अध्यात्म, धर्म, दर्शन आदि के रूप में अभिहित ज्ञान के इस विशिष्ट क्षेत्र की विषय वस्तु से सम्बन्धित अपनी सरणियों/पद्धतियों का आविष्कार और प्रचार-प्रसार, सुस्पष्टता की विभिन्न मात्राओं में प्रस्तुत किया है।

समुचित कथनानुसार, अध्यात्म को अब अपने आप में, किसी भी अन्य विज्ञान भौतिक, जैविक, मानसिक-क्षेत्र के समकक्ष ही

प्रस्तुत-प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए। आत्मा, उस विज्ञान के अपने अध्ययन और अनुसन्धान का सुनिश्चित क्षेत्र है; और उसे धर्म, दर्शन और रहस्यवाद के साथ सम्भ्रमित नहीं किया जाना चाहिए। आरम्भतः आत्मा भी भौतिक द्रव्य, प्राण/जीव, मनस् आदि की तरह रहस्य-प्रवण हो सकता है, किन्तु उसे रहस्यमयीकरण के धुँधलके से मुक्त किया ही जाना चाहिए, जैसा कि भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जैविक विज्ञान, मनोविज्ञान के विषय में, इन के विकास के इतिहास के दौरान घटित हुआ है।

आज प्रतिष्ठित कहे जाने वाले प्रत्येक विज्ञान को धर्म, दर्शन और रहस्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ा है, जो कि अपनी बारी में/जगह पर अप्रासंगिक या तिरस्करणीय नहीं है। फिर भी, विज्ञानों के स्वतंत्र विकास के अपने अनुक्रम/दौर रहे हैं। अतः ईसाई युग की अठारहवीं, उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियाँ, क्रमशः भौतिक, जैविक और मानसिक विज्ञान की शताब्दियों के रूप में अंकित और परिकल्पित की जाती हैं। इसी तरह इक्कीसवीं शताब्दी अध्यात्म विज्ञान की शताब्दी होनी है।

जो शताब्दी, इस समय, अपने अन्तिम चरण में है, उस के आरम्भिक मोड़ पर, वर्तमान आध्यात्मिक युग के पुनरुद्धार का उद्घाटन स्वामी विवेकानन्द द्वारा सम्पन्न हुआ। फिर, वर्तमान शताब्दी के पूर्वार्द्ध में एक पद्धति/सरणि का आविर्भाव हुआ, जो सूफी परम्परा से विकसित हुई, किन्तु जो मानव-इतिहास के युगों में विस्तृत आध्यात्मिक परम्परा के आधार भूत सत्त्व में पूर्णतः सराबोर थी। उस सरणि/पद्धति के संस्थापक समर्थ सद्गुरु की जन्म-वार्षिकी हम आज अपने पृथिवी-ग्रह के उत्तरार्द्ध गोलक में बसन्तऋतु के आगमन पर मना रहे हैं। बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध, उपर्युक्त पद्धति/सरणि के सहज मार्ग पद्धति के रूपान्तर-परिष्कार का साक्षी बना, जो नामकरण इस के संस्थापक द्वारा इस महान् परम्परा के सद्गुरुओं की श्रृंखला के एक सिरे से दूसरे तक आर-पार जाकर सम्पन्न किया गया।

अब (इस समय) ईसाई कैलेण्डर/पञ्चांग के तृतीय सहस्राब्दी

में छलाँग भरने की सन्तुलन-स्थिति में, योग के सिद्धान्त और साधना की सहज मार्ग पद्धति के संस्थापक समर्थ सद्गुरु के प्रति आस्था/निष्ठा के दावेदार, हम सभी का, उन की पावन पुण्य सुस्मृति के प्रति दायित्व है कि उन की जन्म शताब्दी के दौरान और उस के आगे भी समर्थ सद्गुरु, और उन की विस्तृत परम्परा द्वारा मानवता के प्रति प्रमुख प्रीतिदान/उपहार अर्थात् अध्यात्म की अपने आप में पूर्णांग विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठा के प्रस्तुतीकरण और उन्नयन (प्रगति) के प्रति अपना योगदान प्रस्तुत करें। तथाकथित सभी विज्ञान अपूर्ण हैं; और अन्तिम विश्लेषण और संश्लेषण में केवल परमोत्कृष्ट परम तत्त्व ही पूर्ण ठहरता है, जिसे परमात्मा या अन्य कुछ भी कह लें।

●●●

अध्यात्म विज्ञान
— परम्परा एवं रूपरेखा —

(३० अप्रैल, १९९९)

आज बुद्ध पूर्णिमा के अवसर पर समर्थ सद्गुरु श्रद्धेय श्री बाबू जी की जन्म-शती का आयोजन, आकस्मिक प्रतीत होने पर भी सर्वथा समुपयुक्त है। अध्यात्म और उस के आगे, परमतत्व के क्षेत्र में, महात्मा बुद्ध के प्रयास और प्रतिपादन को संसार के सर्वाधिक वैज्ञानिक धर्म की संज्ञा प्रदान की गई है। कालान्तर में वैशाख महीने की पूर्णिमा महात्मा बुद्ध के जन्म, सम्बोधि और परिनिर्वाण की तिथि घोषित की गई। श्रद्धेय बाबूजी का सर्वाधिक श्रेष्ठ योगदान अध्यात्म और ब्रह्म विद्या को सुस्पष्ट विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित और परिभाषित करना है।

मानव संस्कृति के विकास में धर्म, दर्शन, रहस्यानुभूति और विज्ञान श्रेष्ठ उपलब्धियाँ हैं। इन के प्रत्यय, परिधि और आयाम काफ़ी व्यापक हैं और सूक्ष्म व्याख्या चाहते हैं। समर्थ सद्गुरु इन्हें सहज अनुभूति के स्तर पर ग्रहण करके सहज सरल प्रस्तुति कर सकने में सक्षम होते हैं; लेकिन उन के अनुयायियों में सहजता का अभाव इन सांस्कृतिक संस्थाओं की विकृतियों और रूढ़ियों के लिए उत्तरदायी होता है। परिणामतः सैद्धान्तिक विवादों और व्यावहारिक गुटबन्दियों का संवर्धन अपरिहार्य हो जाता है।

सच बात यह है कि सहजता की सादगी ही उसे दुर्लभ और दुर्बोध बना देती है। आत्मा और उस के आगे परमात्मा, उस से भी अधिक, सभी को सहज उपलब्ध है। लेकिन शरीर और मन के प्रति अनुचित आसक्ति आत्मा को सहज रूप में जानने में बाधक बन जाती है; यहाँ तक कि विरक्ति उससे भी जटिल पर्दा या बन्धन बुनती है। इसी तरह आत्मा या स्व, उससे आगे परमात्मा को सहज रूप में ग्रहण करने में बाधक बन जाता है। बहुधा मूढ़ता और पूर्वाग्रह सहजता का पर्याय बन जाता है। यही किसी वास्तविक समर्थ सद्गुरु के प्रतिपादनों

की प्रगति की राह में रोड़ा बन जाता है। महात्मा बुद्ध, ईसा मसीह, कबीर आदि सभी के साथ ऐसी ही कठिनाई पेश आई है।

जिस तरह शरीर, प्राण, मन, विबोध, आत्मा, परमात्मा आदि के विषय में विकृतियाँ और कठिनाइयाँ पैदा हुई हैं, उसी तरह धर्म, दर्शन, रहस्यानुभूति और विज्ञान आदि मानव-संस्कृति की संस्थाओं के विषय में भी हुआ है। अतः इन के भी निकृष्ट और अपरिष्कृत से ले कर श्रेष्ठ और परिष्कृत तक जाने कितने स्वरूप श्रेणीबद्ध हैं। इन के शुद्ध सहज शीर्ष प्रत्ययों के बीच कोई विवाद शेष नहीं रहता, किन्तु बहुधा उन के बीच भी अन्तहीन विवाद विद्यमान रहे हैं। इतिहास इस का साक्षी है, वर्तमान भी इन से रिक्त नहीं है, और भविष्य में भी इन के समाप्त होने की सम्भावना के विषय में सावधानी स्वाभाविक है।

मुख्यतः धर्म और विज्ञान के बीच विवाद और संघर्ष विशेष रूप से यूरोप की भूमि पर शताब्दियों तक चला है; और आज भी समाप्त नहीं कहा जा सकता है। दर्शन और विज्ञान के बीच सम्बन्ध/विवाद के विषय में प्रसिद्ध उक्ति है कि 'दर्शन हर विज्ञान का आरम्भिक और अन्तिम बिन्दु है।' रहस्यानुभूति और रहस्य-बोध दार्शनिक, धार्मिक, वैज्ञानिक और कलात्मक सक्रियता का प्राण कहा जा सकता है किन्तु रहस्यपरायणता इन सभी की ही नहीं, सरल सहज जीवन-यापन में भी बाधक बन सकती है।

जिन समर्थ सद्गुरु की जन्म-शती का आयोजन आज विभिन्न जनसंकुलों द्वारा किया जा रहा है, उनका प्रमुख योगदान अध्यात्म और परमतत्त्व के विषय में, और इन क्षेत्रों में यात्राओं और गन्तव्यों के विषय में व्यावहारिक पथप्रदर्शन और निर्देशन से सम्बन्धित अन्वेषण/अनुसन्धान रहा है। उन्हों ने अध्यात्म और ब्रह्म विद्या के क्षेत्र में श्रेष्ठतम समर्थ सद्गुरुओं के समकक्ष और आगे योगदान प्रस्तुत किया है। इस सम्बन्ध में उन की दृष्टि धार्मिक, दार्शनिक, रहस्य-परायण, विद्वता-परक आदि की अपेक्षा वैज्ञानिक रही है।

वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति अपने तथाकथित प्रतिद्वन्द्वी पद्धतियों/दृष्टियों की तुलना में (i) निरीक्षण, (ii) समस्या-बोध, (iii) उपकल्पना, (iv) परीक्षण और (v) कार्य-कारण सम्बन्धी नियम के निरूपण की प्रक्रिया अपनाने पर बल देती है। आम तौर पर अध्यात्म और परमात्म-तत्त्व के गुरुओं से अपने शिष्यों और भक्तों की वैयक्तिक समस्याओं के समाधान और संकट निवारण/इच्छा पूर्ति आदि की आशा/अपेक्षा रहती है। सहृदय मानवीय स्तर पर इस तरह की सेवा के भी उदाहरण उन के जीवन में मिल सकते हैं। पर उनकी

सुस्पष्ट नीति थी कि संख्या के लिए सिद्धान्त का परित्याग/बलिदान कभी नहीं होना चाहिए।'

धार्मिक और वैज्ञानिक पद्धति/दृष्टि बिन्दु में प्रमुख अन्तर यह है कि धार्मिक क्षेत्र में अपने अग्रज/पूर्वज की आलोचना/त्रुटि देखना वर्जित रहता है : 'ख़ताए बुज़ुर्गां गिरफ़्तन ख़ताअस्त' (बड़ों-बुज़ुर्गों की ग़ल्ती पकड़ना ग़ल्ती है)। विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में अपने से पहले के वैज्ञानिक/दार्शनिक की त्रुटि का सुधार विज्ञान/विद्या की प्रगति के हित में अनिवार्य है। आलोचना केवल आलोचना के लिए नहीं, वरन् त्रुटि को सुधारने के निमित्त होना चाहिए। समर्थ सद्गुरु श्री बाबू जी ने महर्षि पतञ्जलि, आदि-शंकराचार्य, यहाँ तक कि महात्मा बुद्ध तक की त्रुटि का निर्देश करके उस का सुधार प्रस्तुत किया है; और ऐसा करने में उन्होंने इन श्रेष्ठ सद्गुरुओं का किसी तरह कोई अपमान नहीं किया है।

विज्ञान की भी अपनी सीमाएँ है। दर्शन और विज्ञान में प्रमुख भेद यह है कि प्रत्येक विज्ञान के कुछ मूल प्रत्यय और आधारभूत मान्यताएँ होती हैं; जो उस विज्ञान-विशेष में प्रश्न का विषय नहीं हो सकती हैं। दर्शन शास्त्र/तत्त्वशास्त्र ऐसी कोई पूर्वमान्यता स्वीकार नहीं करता। इस दृष्टि से अध्यात्म, विज्ञान की परिधि में आता है; किन्तु ब्रह्म विद्या/परमात्म तत्त्व, कार्य-कारण सम्बन्धी नियम, कृपा आदि के विषय में, विज्ञान की परिधि में नहीं लाया जा सकता। इस दृष्टि से विज्ञान और दर्शन के परस्पर सम्बन्ध की तरह अध्यात्म और ब्रह्म विद्या के विषय में कहा जा सकता है कि अध्यात्म का चरम बिन्दु ब्रह्म विद्या का क्षेत्र है, जो परमतत्त्व शास्त्र (दार्शनिक) है, वैज्ञानिक नहीं।

अतः आज इक्कीसवीं क्रिश्चियन शती और तृतीय क्रिश्चियन सहस्राब्दी के प्रवेश द्वार पर बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के परम् श्रेष्ठ समर्थ सद्गुरु श्री बाबू जी की जन्म-शती महोत्सव आयोजन के अवसर पर हम उन के श्रेष्ठतम योगदान अर्थात् अध्यात्म को अन्य विकसित और विकास शील विज्ञानों के समकक्ष, अपने आप में एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में विकसित करने की दिशा में प्रवृत्त हों। यही इस परम पुनीत सुअवसर पर उन के प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी। इस दिशा में, उन की अपनी, और उनकी समस्त परम्परा की कृपा और शाश्वत शुभाशीष का अमोघ सम्बल लेकर, आगे और आगे बढ़ना, उन के समस्त प्रिय जनों, परिजनों का परम कर्त्तव्य और दायित्व है। उन का वरद अनुग्रह सभी को सदैव उपलब्ध रहे।

●●●

संस्थापक दिवस समारोह

'एक' का अनुसंधान

हैदराबाद : संस्थापना दिवस : १९८७

'योग' का शाब्दिक अर्थ 'जोड़ना' है। यह कम से कम 'दो' से प्रारम्भ करके संयुक्त 'एक' तक पहुँचने की प्रक्रिया का संकेतक है। इस का अर्थ यह हुआ कि जिसे 'योग' या जोड़ना/संयोग नाम दिया जाता है, उस की संरचना के लिए द्वैत और अद्वैत दोनों अनिवार्य मूलतत्त्व हैं।

प्रकृति के वृत्त/दायरे में, सुस्थिर 'सत्' और विकास परायण 'सत्ता' की समस्या (दार्शनिकता) को अलग छोड़ने पर, व्यावहारिक योग साधना 'एक' का अनुसन्धान (तलाश) मात्र ठहरती है। उस 'लक्ष्य' या 'गन्तव्य' का नाम और विवरण दिया जा सकता है, किन्तु उस की श्रेष्ठतम अवधारणा के निमित्त 'स्वामी' (मालिक/मास्टर/समर्थ सद्गुरु) ही समुपयुक्त शब्द है। 'ईश्वर', सुस्थिर 'सत्', अथवा गन्तव्य 'लक्ष्य' की तरह 'स्वामी' (मालिक/मास्टर/समर्थ सद्गुरु) शब्द का स्थानान्तरण या अनुवाद, विशेषतः एक ही भाषा के अन्तर्गत, नितान्त दुरूह/दुष्कर/कठिन/मुश्किल है।

'स्वामी' (मालिक/मास्टर/समर्थ सद्गुरु) के आमने-सामने (समक्ष) होने पर, जोड़ने की प्रक्रिया ग्रन्थियों पर ग्रन्थियों (गठजोड़ों) का सृजन आरम्भ करती है। इस स्थिति में अपनी इच्छाओं और पूर्व-धारणाओं को उन्नति में बाधक मानने की सावधानी आवश्यक हो जाती है। प्रेम, निश्चित ही, ग्रन्थियों के उन्मोचन और जोड़ने मात्र के बजाय, विलयन घटित करने का उपाय (मार्ग) है। लेकिन अभ्यास के निमित्त प्रेम का उपयोग सर्वाधिक भ्रामक (साधक) है। अपनी पूर्व-धारणाओं का मन पसन्द प्रेम (आसक्ति) को तोड़ना, (आध्यात्मिक प्रगति-पथ पर) 'स्वामी' (मालिक/मास्टर/समर्थ सद्गुरु) की कृपा तक

के लिए लोहे का चना बन जाता है। प्रेम स्वतः घटित होने पर सरल और सहज है; किन्तु प्रयत्न और प्रतिपादन की साधना के लिए नितान्त जटिल और दुरुह (दुःसाध्य)। यह सर्वथा सच्ची उक्ति है कि प्रेम की गली दो के एक साथ घुसने के लिए, नितान्त संकीर्ण है। वास्तविक प्रेम की स्थिति में, केवल 'स्वामी' (मालिक/मास्टर/समर्थ सद्गुरु) को जीवित बनाये रखने के लिए (वरण किये गये प्रतिनिधि के लिए) स्वयं मर जाना अनिवार्य है। प्रेम की हास्य काव्यानुकृति (पैरोडी) स्वयं को 'एक' और मात्र 'एक' के रूप में जीवित (प्रतिष्ठित/प्राप्त) करने के हित में स्वामी (प्रियतम/मास्टर/समर्थ सद्गुरु) को मर जाने देती है। (यह) दोनों उदाहरण 'एक' के अनुसन्धान (खोज/तलाश) की यौगिक प्रक्रिया के दो परस्पर विरोधी सिरे हैं।

अतः वस्तुतः प्रेम को भी 'स्वामी' (प्रियतम मालिक/समर्थ सद्गुरु) की ही ओर से आना होता है, यद्यपि जो कुछ स्वयं अपना प्रमुख कर्त्तव्य है, उसे 'स्वामी' (प्रियतम समर्थ सद्गुरु) द्वारा सम्पन्न किये जाने की आशा रखना धृष्टता/अशिष्टता का शीर्ष बिन्दु है। तथापि (फिर भी) 'स्वामी' (प्रियतम समर्थ सद्गुरु) की स्वतंत्रता और वरण पर कोई भी प्रतिबन्ध नहीं हो सकता। यह मुख्यतः प्रेम के विषय में वरण पर नितान्त प्रासंगिक है। 'स्वामी' (समर्थ सद्गुरु) का प्रेम, वर्षा की तरह, सभी के लिए समानतः खुला (उपलब्ध) है; किन्तु 'स्वामी' (समर्थ सद्गुरु) की, किसी ऐसे 'एक' को प्राप्त कर पाने की उत्कण्ठा (तड़प) एक वास्तविक क्षमता सम्पन्न समर्थ सद्गुरु के अतिरिक्त अन्य किसी के लिए दुर्बोध है, जो 'एक' अपने समर्थ सद्गुरु का सब कुछ ले कर उन्हें नितान्त भार-हीन बोझ-शून्य स्वच्छन्द दायित्व रहित उड़ान भरने के योग्य बना सकने में सक्षम हो। एक वास्तविक समर्थ सद्गुरु (मालिक/स्वामी) के हृदय के सन्ताप/पीड़ा और व्यथा/वेदना के समान/समकक्ष, कहीं कुछ भी, उदाहरण के रूप में, उद्धरणीय नहीं है। कई सर्वोत्कृष्ट हैसियत के समर्थ सद्गुरुओं ने अपने भौतिक विलय/शरीरावसान के बाद पूर्ण-विमुक्ति/अशेष निस्तरण प्रदान करने वाले 'एक' की प्रतीक्षा में अक्षरशः शताब्दियाँ बिताई हैं।

समर्थ सद्गुरु (स्वामी प्रियतम) के प्रेम द्वारा प्रदान किया गया

विलयन/सायुज्य समस्त ग्रन्थियों का उन्मोचन (अवसान/विलय) सम्पन्न कर देता है; और तब 'योग' (जोड़ना), 'एक' का अनुसन्धान आदि सभी कुछ अतिक्रमित/तिरोहित हो जाता है। समर्थ सद्गुरु (स्वामी/मालिक/मास्टर/प्रियतम), स्थिर 'सत्' की ही तरह, अनेकधा गतिशील 'सत्ता' की बिखरी स्थिति में ठहर जाता है, जब तक उसे सम्पूर्णतः समेटने (धारण करने) वाले पात्र का समुचित 'एक' के रूप में गठन पूरा होता है, जो वास्तविक तरह से मालिक (स्वामी/मास्टर/समर्थ सद्गुरु) के प्रेम का अधिकारी होता है। 'एक' और केवल 'एक' के प्रति निःस्वार्थ तड़प ही उस अवस्था/स्थिति तक लाने/जाने का मार्ग करती है, जहाँ ऐसी जीवन्त मृत्यु अनुसन्धान (खोज/तलाश) को पूरा करके, 'एक' तक 'एक' ही वापसी सुलभ करती है।

●●●

एक ही समर्थ सद्गुरु : उसका एक ही मिशन

(वडोदरा, गुजरात-नवम्बर १९८९)

हर कोई जानता है : ईश्वर एक है किन्तु लोग विभिन्न नामों से उसे जानते हैं; और भिन्न-भिन्न रूपों में उसकी पूजा करते हैं। इसी प्रकार सद्गुरु एक ही होता है और उसे इसी तरह ही पहचानना (मानना) चाहिए। यह कहना कि सद्गुरु जीवित या मृत हैं, भूत, वर्तमान या भविष्य है, इससे यदि निन्दा नहीं तो अज्ञान अवश्य झलकता है। सद्गुरु का शारीरिक आविर्भाव अलग-अलग नामों से जाना गया है। सद्गुरु वास्तव में शारीरिक आविर्भाव से नहीं, बल्कि दशा, अवस्था और कार्य से बनता है। अपनी निर्दोष अबोधता और प्रेम की मात्रा तथा गुण के अनुसार जो भी उसके सम्पर्क में आते हैं और इसे क़ायम रखते हैं वे निःसन्देह सद्गुरु के सम्पर्क में, यद्यपि शारीरिक निकटता से लाभ पाते हैं किन्तु केवल उसी सीमा तक जहाँ तक शारीरिक आविर्भाव में (सद्गुरु की) निहित दशा, अवस्था और कार्य से उनका सम्पर्क हो पाता है। अलग-अलग समय पर विविध रूपों में भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाने वाला शारीरिक आविर्भाव ही यदि महत्त्वपूर्ण होता तो ऐसी स्थिति में परिवार के सदस्य सबसे अधिक लाभ उठाते; और समर्थ सद्गुरु को कुछ महान् अवतरणों/आविर्भावों में शारीरिक अस्तित्व के परे (बाद में) भी उत्तरदायित्व के बोझ से छुटकारा पाने के लिए एक उत्तराधिकारी-प्रतिनिधि की तलाश में शताब्दियों तक इन्तज़ार नहीं करना पड़ता।

वह 'एक', थोड़ा-बहुत, यत्र-तत्र, यदा-कदा प्राप्त हुआ सद्गुरु रूप में कृष्ण, बुद्ध, ईसा आदि नामों से जाना गया है। निःसन्देह व्यक्तित्व का अन्तर वास्तविक है; और लोग अपने समीपतम सुलभ व्यक्तित्व से लाभ पाते हैं, यद्यपि उन के व्यक्तित्व में स्थित लाभ का स्रोत सूक्ष्म

होता है और सिर्फ उसी स्रोत से समुचित सम्पर्क के द्वारा ही उस मूल से लाभ पाने का रास्ता बनता है। किसी व्यक्ति या किसी वस्तु में वह सूक्ष्म तत्त्व है ऐसा मान लेना ही लाभ पाने के लिए पर्याप्त नहीं है; यह सम्भव है कि खोज करने वाले की लालसा या राग मात्र, वास्तविक मूल तत्त्व के किसी सच्चे आविर्भाव के नज़दीक होने पर भी पर्याप्त लाभ देने में सक्षम न हो। कोई पर्याप्त लाभ देने या लेने के बजाय चिर काल तक सद्गुरुपन के विभ्रम या भ्रान्ति में पड़ा रह सकता है।

यत्र-तत्र, यदा-कदा आविर्भूत उस एक सद्गुरु का स्वभावतः सिर्फ एक ही मिशन होता है, जिसका समय-समय पर वर्णन भिन्न हो सकता है। परम सत्ता का साक्षात्कार ही एक ध्येय या उद्देश्य रहा है। युगों से ग़लत और भ्रान्त प्रचार-प्रसार के ख़िलाफ़ सही अर्थों में मार्ग को भली प्रकार साफ़ करने के लिए समर्थ सद्गुरु के अलग-अलग शारीरिक आविर्भाव का एक ही मिशन होता है। एक के बाद एक संगठन बने और बिगड़े लेकिन समर्थ सद्गुरु का मिशन सदा एक ही रहा है। जो संगठन इस एक मिशन की पूर्ति और प्राप्ति में योगदान करता है वह अपना अस्तित्व उसी पूर्ति या प्राप्ति तक ही प्रमाणित करता है। एक संगठन या पद्धति एक अजायबघर की वस्तु या पाण्डित्यमय झगड़े के रूप में चाहे शताब्दियों तक क़ायम रहे, उस का प्रमुख कार्य से कट कर कुछ भी महत्त्व नहीं रहता है। आध्यात्मिकता या ब्रह्मविद्या के क्षेत्र में उन्नति या किसी स्थिति की जो कोई कामना करता है उसे अवश्य सजग रहना होगा और इन सुस्पष्ट तथ्यों को सतत् याद रखना होगा।

ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्य, महात्मा बुद्ध, श्री चैतन्य, संत कबीर, स्वामी विवेकानन्द और सर्वोपरि समर्थ सद्गुरु महात्मा श्री रामचन्द्र जी महाराज फतेहगढ़ (यू० पी०) की श्रृंखला में यौगिक अभ्यास और सिद्धान्त की दीर्घ परम्परा द्वारा प्रदत्त अनगढ़ सामग्री से समर्थ सद्गुरु श्री बाबूजी द्वारा निर्मित और विकसित पद्धति और संस्था का उद्घोष है : 'एक ही समर्थ सद्गुरु; उसका एक ही, मिशन, कुछ धूमिल उदय वाली यह सतत् नूतन परम्परा योगेश्वर कृष्ण, और उनकी दिव्य काँति ान मानवीय सहचरी आराध्या राधा जी यहाँ तक कि महामना ईसा, हज़रत मोहम्मद और गुरु नानक से सम्बद्ध है और यह आदि योगी

शिव, माता पार्वती, मर्यादा पुरुषोत्तम राम, आदर्श भक्त हनुमान आदि के पौराणिक रूपों को प्रमाणित या प्रमाणित करने योग्य इतिहास से परे उसी पुरातन श्रृंखला से सम्बद्ध मानवीय रूपों को भी स्वीकार करती है। इस परम्परा को महर्षि पतञ्जलि, व्यास, बुद्धघोष, विज्ञानभिक्षु आदि द्वारा व्यवस्थित और परिष्कृत करने का प्रयास किया गया और महर्षि अगस्त्य और महर्षि अत्रि, भक्तशिरोमणी मीराबाई, परमहंस रामकृष्ण तथा अन्य अनेकों ज्ञात और अज्ञात व्यक्तियों द्वारा परिपुष्ट इस सुदृढ़ परम्परा को मौलिक शोध और कठोर किन्तु सरल क्रमबद्ध पद्धति तरीके के माध्यम से पुरातन निर्मलता सहित नूतन बनाया गया है। किसी को भयभीत होने की ज़रूरत नहीं है कि स्वार्थी और/या ग़लत अर्थ लगाने वालों द्वारा इस महान् परम्परा-प्रवाह के चिरस्थायी स्रोत को कोई भी वास्तविक हानि पहुँचाई जा सकती है। समय आने पर अन्ततः भ्रान्ति-प्रवर्तकों और उनके अन्ध अनुयायियों की हानि सुनिश्चित है।

समर्थ सद्गुरु की अनन्त कृपा और आशीर्वाद द्वारा समस्त मानव जाति के लिए प्रस्तुत इस महान् परम्परा की सेवा के लिए क़िसी भी निष्ठावान अन्वेक्षक को इन चेतावनी और सावधानी पूर्ण शब्दों के प्रति सजग रहना है : 'यदि यह विचार कि वह सद्गुरु बन गया है, एक बार भी किसी के दिमाग़ में आता है तो वह हमेंशा के लिए इस प्रशिक्षण और शोध की पंक्ति में उसे सेवा-कार्य करने के अयोग्य बना देता है।' यह सद्गुरु के लिए उचित है कि अपने चुने हुए शिष्य को अपने से भी श्रेष्ठ बना दे। किन्तु चुने हुए शिष्य के लिए यही उचित है कि वह अपने सद्गुरु को हमेशा शीश पर धारण करे; और इस तरह सद्गुरु पद की महानता सदैव अपने से उच्चतर क़ायम रखें :

यत्रैव यत्रैव मनो मदीयं, तत्रैव तत्रैव तव स्वरूपम्।
यत्रैव यत्रैव शिरो मदीयं, तत्रैव तत्रैव पदद्वयं ते।।

("जहाँ जहाँ मन मेरा वहाँ वहाँ तेरा रूप, जहाँ जहाँ सिर मेरा वहाँ वहाँ तेरे युगल चरण।")

●●●

गुरु-भक्ति : प्रदर्शन और असलियत

(१७ सितम्बर १९९० कलकत्ता)

(कलकत्ता, पश्चिमी बंगाल-सितम्बर १८८०)

लोग अक्सर गुरु की भक्ति का दम भरते हैं, और उस (गुरु) की अज़मत (श्रेष्ठता) को आशकार (प्रकट) करने का दावा करते हैं, लेकिन इसकी आड़ में अपनी अज़मत का डंका पीटने की फ़िक्र (चिन्ता) में रहते हैं। गुरु के तईं (प्रति) अपनी मुहब्बत या अपने तईं गुरु की मुहब्बत के अफ़साने (कथाएं) इस अन्दाज़ (भाव) से पेश (प्रस्तुत) किये जाते हैं कि 'देखा, मेरी क्या हैसियत है।' यह ख़ुदनुमाई (आत्म-प्रदर्शन) का ज़ोऽम (अभिमान) इस हद तक पहुँचता है कि ख़ुद (अपने) को इशारे (संकेत) से गुरु से भी बड़ा साबित (सिद्ध) किया जाने लगता है, और इसे मुहब्बत की इन्तेहा (चरम-सीमा) समझा जाता है कि 'ऐ महबूब, तुम तो बस यों ही निहायत मामूली शख़्स (अत्यन्त साधारण व्यक्ति) हो या थे। यह तो कहो, मेरी मुहब्बत या मेरे तईं तुम्हारे रुझान ने तुम्हें क्या से क्या बना दिया, और कहाँ से कहाँ पहुँचा दिया।' इस तरह की ख़ुदनुमाई और ख़ुदपरस्ती (अपनी स्वयं की पूजा) के हज़ारों दर्ज़े हैं, और इनकी बेशुमार मिसालें (अगणित उदाहरण) हर तरफ बिखरी मिलेंगी। ख़ुद को ख़ुदा की ख़ुदाई (ईश्वर के ईश्वरत्व) का मुम्तहिन (परीक्षक) मुक़र्रर (नियुक्त) करने की मिसाल तो बहुत आम (अति साधारण) है कि 'अगर तू खुदा है, तो ऐसा करके दिखा।' इसमें ख़ैर कोई हर्ज (हानि) भी नहीं, क्योंकि ख़ुदाई का दावा करने वालों की आज के ज़माने (समय) में कमी नहीं, अतः सही और ग़लत का फ़र्क़ (अन्तर) कर सकने का माऽद्दा (तत्त्व/क्षमता) हर इन्सान में ज़रूर होना चाहिए। ख़राबी वहाँ पैदा होती है, जब असली ख़ुदा या गुरु मिल जाने पर ख़ुदनुमाई की ख़सलत (आत्म प्रदर्शन की प्रकृति) और अदा ऐसी सूरत अख़्तियार

करती (अपनाती) है कि उसकी बेख़कनी (जड़ खोदना) एक सचमुच अच्छे गुरु के लिए ख़तरा बन जाती है, और उसके सब किये-धरे पर पानी फिर जाने की हालत (स्थिति) पैदा हो जाती है।

मुहब्बत बड़ी नायाब (दुर्लभ) दौलत है, जो ख़ुद को मिटाये बग़ैर हासिल नहीं होती; और यह क़ीमत (मूल्य) अदा करना हरकस-व-नाकस (ऐरे गैरे) का जिगरा (साहस) भला कैसे हो सकता है ? मुहब्बत की निहायत तंग (अत्यन्त संकरी) गली में दो का एक साथ गुज़र (रहना) मुमकिन (सम्भव) नहीं। अक्सर (बहुधा) मुहब्बत और भक्ति का दम भरने वाले लोग गुरु को ख़त्म (समाप्त) करके उस गुज़श्ता (दिवंगत) की जगह ख़ुद अपने आपको जल्द-अज़-जल्द (शीघ्रातिशीघ्र) क़ायम (स्थापित) करने के लिए बेचैन (आतुर) रहते हैं। शाज-व-नादिर (बहुत ही दुर्लभ) किसी बड़े ख़ुश-क़िस्मत (सौभाग्यशाली) गुरु को कभी एक ऐसा शागिर्द (शिष्य) कहीं मिल जाता है जो ख़ुद को ख़त्म करके अपने गुरु को ज़िन्दा जावेद (शाश्वत रूप से जीवित) रख पाता है; और महज़ (केवल) उसका नुमाइन्दा (प्रतिनिधि) बनकर उस लाजवाल इल्म-व-फ़न (अक्षुण्ण विद्या और कला) के सिलसिले को फ़रोग़ देने (आगे बढ़ाने) में मददगार साबित होता है, जिसकी नुमाइन्दगी ख़ुद उस ख़ुश क़िस्मत गुरु की शख़्सियत (वैयक्तिकता) की रुहे-र-वां (सतत् गतिशील आत्मा) का कुल हिसाब होती है। भला ऐसे गुरु और ऐसे शागिर्द के रिश्ते (सम्बन्ध) का रम्ज़ (रहस्य) कौन कैसे बता सकता है ! यह तो बस सीना-दर-सीना (एक वक्ष के अन्दर से दूसरे वक्ष के अन्दर तक) फ़ैज़ की रवानी (ललित अनुकम्पा प्रवाह) की दास्तान (कहानी) है।

मुहब्बत बेशक अज़ीम शै (निःसन्देह श्रेष्ठ वस्तु) है। हिन्दी के ढाई और उर्दू या अंग्रेजी के चार हुरुफ की तज्जीमे-ख़ास (अक्षरों की विशिष्ट व्यवस्था) मञ्जिले-मक़सूद (लक्षित गन्तव्य) तक रसाई (पहुँच) के इल्म-व-अक़्ल के हुसूल के बालातर मुक़ाम (विद्या और बुद्धि की उपलब्धि से उच्चतर स्थान) तक बेहतर रहनुमा (श्रेष्ठतर पथ प्रदर्शक) हैं, मगर बज़ाते ख़ुद (अपने आप में) मञ्ज़िले-मक़सूद नहीं। इसकी वज़ाहत (स्पष्टीकरण, व्याख्या) में हज़ारहा (सहस्त्रों) किताबें लिखी जा

सकती हैं। मुख़्तसर (संक्षेपतः) यह कि इल्म-व-अक़्ल की रसाई की इब्तदाई (आरम्भिक) रूहानी मञ्ज़िल (आध्यात्मिक-गन्तव्य) तो यह है कि बेटा-बेटी, माँ-बाप, शौहर-बीबी (पति-पत्नी), गुरु-शागिर्द वगैरः ख़ुद उन की हैसियत से नहीं, बल्कि अपने ही लिए प्यारे होते हैं। मैं इस आलमे-फ़ानी (नाशवान संसार) के तमाम-सारे रिश्तों को निभा कर आख़िर क्या हासिल (प्राप्त) करूँगा, यदि यह मुझे ख़ुद अपने को हासिल करने में मददगार (सहायक) साबित (सिद्ध) नहीं होते। जानवर (जीवित प्राणी) की शक्ल लेकर पैदा होना और जानवर की ही तरह मर जाना इन्सानियत (मानवता) की तौहीन (अपमान) है। इल्म-व-अक़्ल ही इसकी तरदीद (खण्डन) करते हुए रूह (आत्मा) यानी ख़ुद (स्वयं) की तलाश (खोज) में अस्बात (धन चिन्ह +) की जगह नफ़ी (ऋृणचिन्ह '–') की अहमियत (महत्ता) का इशारा करती है कि ख़ुद को हासिल करने का बेहतर तरीक़ा ख़ुद का खो जाना या मिट जाना या भूल जाना है। ख़ुदी का इख़्तेताम (अहंता की समाप्ति) ही ख़ुदाई (ईश्वरत्व) की पहचान है। इसी सिलसिले में आगे मुहब्बत-नामे (प्रेमाख्यान) की तवील ताऽलीम (लम्बे-प्रशिक्षण) का बाब (अध्याय) खुलता है कि ख़ुद फ़रामोशी (अपने को भूल जाना) सुहब्बत की फ़ितरी तशरीह (स्वाभाविक व्याख्या/विवृति) है। यों कहें कि ख़ुश्क-ख़ाशाक नफ़ी-अस्बात की रूहानियत (रूखी-सूखी कूड़ा-करकट ऋृणात्मक-धनात्मक आध्यात्मिकता) की जगह रसभरी शीरीं हुजूरी (प्रियतम-प्रभु के समक्ष सरस मधुर-विद्यमानता) की होशरुबा मस्ती (होश हवास चुरा लेने वाली उन्मत्तता) फ़राहाम (प्रस्तुत) कर दी गई। बरतरी (श्रेष्ठता) सभी कहीं बेशक ज़्यादा ख़तरनाक होती है। लिहाज़ा (अतः) मुहब्बत के मामले में शीरीनी (मिठाई) की मुतलाशी (खोज करने वाली) ख़ुदगर्ज़ लालची मक्खी और चिराग की लौ पर निसार (निछावर) पतंगे का फ़र्क़ (भेद) ज़र्बुल्मस्ल (प्रसिद्ध कहावत) है। बुझे चिराग के परवाने (पतंगे) की मिसाल बहुत ख़ूब (सुन्दर) है, मगर कमयाब (दुर्लभ)। अलावा अज़ीं (इसके अतिरिक्त) मुहब्बत की पुरख़रोश मस्ती (चीख़-पुकार युक्त उन्मत्तता) बदतर बन्दिश (अधिक ख़राब बन्धन) का ताना-बाना तैयार करती है, जिसको रूहानियत का बालातर

दर्जा (अध्यात्म का उच्चतर सोपान) होने की सनद (सर्टीफ़िकेट) देने वालों के वहम (भ्रामकविचार) ने इल्मे रूहानियत (अध्यात्म) और ब्रह्मविद्या को जो नुक़सान पहुँचाया, उसकी तलाफ़ी (क्षतिपूर्ति) बहुत मुश्किल बन गई। मुहब्बत के शोर-व-शर (गुल-गपाडा) और शरारत, के उफान और जोश (उबाल) के बाद जो समासम कैफ़ियत (हालत) है, वह मुहब्बत के घनचक्कर से छुटकारा का बालातर मुक़ाम (उच्चतर-स्थान) है, जहाँ अन्दरूनी सुलगाव की ख़ामोश बेचैनी की सल्तनत (साम्राज्य) होती है और आगे यह भी नहीं रह जाती। यहाँ पहुँचकर कर्म, ज्ञान और भक्ति वगैरहः के झगड़ों से ऊपर असल रूहानियत का दरवाज़ा (द्वार) खुलता है, और असली रूहानी सफ़र (आध्यात्मिक यात्रा) शुरू होता है। यहाँ तक मादियत (भौतिकता) का ही हल्क़ा (क्षेत्र, घेरा) जाँगुज़ीद (प्राणान्तक) बना रहता है, जिसे रूहानियत के मग्ज़ के मुक़ाबिल (अध्यात्म के सार तत्त्व के समक्ष) सूखी हड्डी ही कहना चाहिए, जिसके लिए परलोक के दिलदादः (प्रेमी) और ठेकेदार कुत्तों की तरह लड़ते हैं, और सूखी हड्डी चूसने में ख़ुद अपने ही मुँह के ज़ख़्मों (घावों) के बहते ख़ून आदि की लज़्ज़त (स्वाद) को मञ्ज़िले-मक़सूद तक रसाई (लक्षित गन्तव्य तक पहुँचने) का हज़्ज़ (आनन्द) समझ कर महजूज़ (आनन्द-मग्न) होते है, और बाक़ी सभी को रूहानियत से बे-बहरा (अध्यात्म से वञ्चित) समझते और बताते हैं।

सही रास्ते (समुचित मार्ग) के बारे में तनाज़ेऽआत (झगड़ों) के समासम हालत में तहलील (लय) होने पर निहायत पुर-सुकून (अत्यन्त शान्त) हालत में रूहानियत का असली सफ़र शुरू होता है, जिसमें कर्म, ज्ञान और भक्ति आदि सुकून (शान्त, उतार चढ़ाव-रहित) की शक्ल में रहते हैं। उनकी गर्मी का उबाल समाप्त होकर, उनकी ठन्डी हालत में, उनका आपस में (परस्पर कोई तनाज़ेऽआ बाक़ी नहीं रहता, और सिर्फ रूह (आत्मा) के ख़ुदा (परमात्मा) में तहलील (लय) होने, यानी दूसरे लफ़्ज़ों (शब्दों) में बूँद के समुन्दर में मिलने के दर्जे (सोपान) यके-बाद-दीगरे (एक के बाद दूसरे) हल्की और नफ़ीस (उदात्त) हालत में ख़ुद के मिटने का बेहद दिलकश नक्शा (अत्यन्त

आकर्षक मानचित्र) पेश (प्रस्तुत) करते हैं, जिस के सामने (समक्ष) वह सारी दिलकशी (मनमोहकता) हेच (तुच्छ) है, जिससे इन्सान इस दुनिया में अपनी ज़िन्दगी के दौरान (काल, समय) आश्ना (सुपरिचित, सुसंलग्न) होता है। बेशक (निःसन्देह) यह मौत का सफ़र है, और मौत ज़िन्दगी से बदरजहा दिलकश (अनेकों गुणा अधिक चित्ताकर्षक) है। लेकिन यह मौत भी वह नहीं है, जिस से दुनिया में अपनी जिन्दगी के दौरान आम (साधारण) आदमी का तऽआर्रुफ (परिचय) होता है, और हमेशा वह उससे ख़ौफ़ज़दः (भयभीत) रहता है। आत्मानन्द से ब्रह्मानन्द में तजावज़ (प्रगति) करने का यह सफ़र (यात्रा) कितना लज़ीज़ (स्वादिष्ट) और दिलकश (चित्ताकर्षक) है यह आऽम ज़ुबान (सामान्य भाषा) में बयान होना सम्भव नहीं। लेकिन यह असली चीज़ है, ख़्वाब-व-ख़याल (स्वप्न और विचार), वहम-व-गुमान (भ्रम और धारणा), कल्पना की उड़ान वगैरहः नहीं। इस सफ़र को तै करने के लिए गामज़न (उद्यत) होने की हिम्मत बहुत कमयाब (दुर्लभ) है, हालाँकि ख़्वाबीदगी (स्वप्निलता) के आगे ख़ालिस नींद (सुषुप्ति) की हालत की लज़्ज़त (स्वाद) हर इन्सान को नसीब (भाग्य से प्राप्त) रहती है और उसके बग़ैर ज़िन्दगी भी वबाल (जञ्जाल) बन जाती है। यह मौत का सफ़र दरअसल (वास्तव-में) रूह (आत्मा) का अपनी असल तह, बुनियाद या जड़ की तलाश है, जिसमें रसाई (पहुँचना) उस मञ्ज़िले-मक़सूद की हद (सीमा) में दाख़िला (प्रवेश) दिलाती है, जिसमें सबात-व-नफ़ी, होना और न होना, वहदत-व-कसरत (एकत्व और अनेकत्व) वग़ैरः का फ़र्क़ बेमाऽनी (अर्थ हीन) है, लिहाज़ा (अतः) बूंद और समुन्दर का फ़र्क़ भी नहीं है। सफ़र (यात्रा) फिर भी बाक़ी (शेष) है, जिसको समुन्दर के बूंद में, खुदा (ईश्वर) के खुदी (वैयक्तिक अहंता) में तहलील (लय) होने के मनाज़िल (गन्तव्य बिन्दु) कहा जा सकता है। यही सेन्ट्रल रीजन (केन्द्रीय क्षेत्र) की तैराकी है। इसके पहले का सफ़र अगर मौत के मनाज़िल तै करना कहा जाये, तो अब जो सफ़र दरपेश (सामने) है वह ज़िन्दगी और मौत के बाद की ज़िन्दगी या हस्ती (होने) का सफ़र कहा जा सकता है, जो ज़िन्दगी ही ज़िन्दगी है। इससे ज़्यादा क्या कहा जा सकता है, और यह कहना

भी महज़ (केवल) कहने भर को है।

यह सब कितना आसान (सहज) है, और कितना मुश्किल ! सींक की ओट पहाड़ का मज़मून है। यह सब आसान कब और किस के लिए ? जब कि जो कोई उस (मालिके कुल) का हो रहे, और उस पर अपने को छोड़ दे। मुश्किल कब और किसके लिए ? जब जो कोई उस (मालिके-कुल) को अपने लिए इस्तेमाल करना चाहे और उसे अपने पर मुनहसिर (निर्भर) रखने का इरादा करे, और अपने इस इरादे को तकमील (पूर्णता) देने की कोशिश में मुब्तिला हो (फंस) जाय। क़िस्सा कोताह (संक्षिप्त कहानी) यह कि सारा दार-व-मदार (रख-रखाव) इस बात पर है कि मरकज़ (केन्द्र) में मालिके कुल को रक्खा गया है या ख़ुद अपने को ! बिल् आखिर (अन्ततोगत्वा) होता वही है जो मञ्जूरे-ख़ुदा (प्रभु को स्वीकार) होता है।

●●●

समर्थ सद्गुरु की समुचित शागिर्दी

(घारवाड़ कर्नाटक-नवम्बर १८८१)

रूहानियत के समर्थ सद्गुरु की पैरवी और शागिर्दगी का मेऽआर यह है कि इस इल्म पर अख़्तियार हासिल हो और उस सिलसिले को फ़रोग़ देने की अहलियत पैदा हो जो कि समर्थ सद्गुरु की अहमियत और निस्बत की ख़ासियत है। गुरु को ख़िदमत वगैरः के ज़रिये ख़ुश रखने में कोई हरज नहीं; लेकिन उस के साथ और उस के ज़रिये अगर असल चीज़ पर उबूर (पारंगति, प्रवीणता, अधिकार, आधिपत्य) हासिल न हो सका तो उस्ताद की ख़ुशी शागिर्द और उस्ताद दोनों के हक़ में सख़्त मुज़िर (हानिकारक) साबित हो सकती है। मिसाल के तौर पर रियाज़ी का उस्ताद (गणित का शिक्षक) अगर पैर दबाने और घर का सौदा सुलुफ़ बाजार से लाने वाले शागिर्द से ख़ुश होकर उसे अच्छे नम्बर दे और फिर अपनी जगह पर उस की तक़र्रुरी (नियुक्ति) करके रिटायर हो जाए तो उस शागिर्द और ख़ुद अपने हक़ में सख़्त नुक़सान करने के अलावा इल्म रियाज़ी और उसकी तालीम के सिलसिले के तईं (प्रति) अपनी ज़िम्मेदारी से बरतरफ़ होने क, मुजरिम होता है, जिसकी मुआफ़ी नहीं हो सकती।

यह कह सकते हैं कि रूहानियत और रियाज़ी (गणित) में फ़र्क़ है। अध्यात्म और ब्रह्मविद्या में शागिर्द की तरक़्क़ी गुरु यानी परमात्मा की मर्ज़ी और कृपा पर ही मुनहसिर (आश्रित) होती है। यह सच हो तो भी कृपा हासिल करने की अहलियत (पात्रता) और शर्त मामूली स्कूली मज़ामीन (विषयों) और उन के असातिज़ा (उस्तादों) की शागिर्दी की शरायत (शर्तों) से कुछ ज़्यादा ही मुश्किल समझना चाहिए। समर्थ सद्गुरु और परमात्मा बेशक किसी बन्दिश (बन्धन) के तहत (अधीन) नहीं, लेकिन इस लिए वह हर कसो-ना-कस की मर्ज़ी

के ताऽबे (अधीन) कृपा करने के लिए मजबूर तो नहीं हो सकते। उनके मजबूर होने की शर्त हिर्सो-हवस (लालच और वासना) के बन्दों की ख़्वाहिशात के ताऽबे-फ़रमान (आज्ञा के अधीन) नहीं। वह तो सदियों में किसी ऐसे बुझी शमा के परवाने के ज़रिये पूरी हो पाती है जिसकी ख़्वाहिशात की शमा क़तई बुझ चुकी हो, और जो सब तरफ से क़ताऽताऽल्लुक (सम्बन्ध विच्छिन्न) हो कर सिर्फ एक का ही बेदाम गुलाम और बिला शर्त ताऽबे फ़रमान हो चुका हो। ऐसी अहलियत और शागिर्दगी उन लोगों की मजाल क्यों कर हो सकेगा जो दिन रात मूर्ति की पूजा, खुश नसीब जैसे गुड़ियों के खेल में मस्त रहते हैं, और अपनी मर्ज़ी के मुताबिक कोई बात न होने की सूरत में देवता या खुदा के बुत को फेंकने या उस को ज़लील करने को तैयार हो जाते हैं कि जैसे खुदा इनका गुलाम हो ! ऐसे लोग अपनी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ होने की सूरत में अपने बाप को भी नहीं बख़्शते। परस्तिश (पूजा) और ऐतक़ाद (विश्वास) उनके लिए अपना काम निकालने और अपना उल्लू सीधा करने का ज़रिया होते हैं, जिसकी हैसियत रियाज़ी के उस्ताद के पैर दबाने और घर का सौदा सुलुफ लाने वाले शागिर्द की मिसाल से भी गई बीती कहना चाहिए।

रूहानियत और उसके समर्थ सद्गुरु को लोगों ने जाने क्या समझ लिया है। कोई उनके दर्शन या वचन या प्रसाद या चरणामृत वग़ैरः को काफ़ी समझता है, कोई ख़ुशामद को मुहब्बत मानता है। ऐसे लोगों का गुरु पर ऐतक़ाद उतना भी नहीं होता जितना कि एक मामूली तिफ़्ले मक्तब (स्कूली बच्चे) को अपने उस्ताद पर होता है, क्योंकि तिफ़्ले मक्तब का मक़्सद इल्म हासिल करना होता है, जिसके लिए वह उस्ताद की डांट-फटकार और सज़ा वग़ैरः को बर्दाश्त करने को तैयार रहता है। रूहानियत को इल्म की हैसियत से हासिल करने की ग़रज़ से बहुत कम लोग गुरु के पास जाते हैं। लिहाज़ा रूहानी तालीम के सिलसिले में किसी तरह की सख़्ती का सवाल नहीं। बद्दुआ वग़ैरः के ज़रिये, जिस काम के लिए आते हैं उसमें ख़लल (बाधा) पैदा होने का डर ज़रूर हो सकता है। सही तालीम करने वाले असली समर्थ गुरु को स्वयं ख़ायफ़ (डरा हुआ भयभीत) रहना पड़ता

है कि चंद लोग, जो तालीम हासिल करने की ग़रज़ से आते हैं, कहीं उन्हें ख़ुद अपने समर्थ सद्गुरु के क़र्ज़ की अदायगी के एक मौक़े से महरूम (वंचित) न कर जायें। रूहानियत को बदनाम करने वाले, ख़ुद को समर्थ सद्गुरु समझने और कहलाने को बेताब उस्ताद लोग बेशक अपने भक्तों को दर्शन, चरणामृत वग़ैरः अता करके उन्हें और ख़ुद को ख़ुश रखते हैं, और तालीम के नाम पर लोगों के अन्धेपन का फ़ायदा उठाते हैं, और पुश्त-दरपुश्त के लिए अपना अच्छा इन्तज़ाम कर जाते हैं। आऽक़ेबत् (परलोक) अपनी और शागिर्दों की ज़रूर बिगाड़ लेते हैं। लेकिन आऽक़ेबत् का पता तो आऽक़ेबत् को ही होगा। इतनी देर की उधार खाते की उम्मीद में फ़ौरी नक़द (तुरन्त के नक़द) के हुसुल से वह महरूम क्यों होने लगे ? आऽक़ेबत् की ख़बर ख़ुदा जाने।

मेरा अपना तजुर्बा शाहिद (साक्षी) है कि मेरे समर्थ सद्गुरु एक ऐसा शागिर्द पाने को बेचैन रहे, जो उनका सब कुछ ले कर उनके सिलसिले को फ़रोग़ (आगे बढ़ाना) दे सके। ज़िन्दगी में ऐसी मुराद का हुसुल बड़ी ख़ुशक़िस्मती की बात होती है; और कहीं इसका अहल (पात्र) दस्तयाब (प्राप्त) हो जाये तो उसे बहुत पोशीदा रख कर उसके ख़ुसूसी तालीम (विशिष्ट परीक्षण) का एहतमाम (प्रबन्ध) करना होता है। बेशक काम सब समर्थ सद्गुरु का ही होता है। लेकिन बर्तन बनाने के लिए मिट्टी या धातु तो होनी ही चाहिए। हवा और पानी तो घड़ा गढ़ने के लिए काफ़ी नहीं होते। परमात्मा में सभी तरह की ताक़त ज़रूर है। लेकिन उसकी ताक़त पर और उसकी मर्ज़ी पर किसी को अख़्तियार नहीं; और यह हक़ीक़त है कि अक्सर बड़े आऽला पैमाने के समर्थ सद्गुरुओं को उनके इल्म पर अख़्तियार हासिल कर के उनके सिलसिले को फ़रोग़ देने की अहलियत के शागिर्द का इन्तज़ार सदियों करना पड़ा है।

ख़ैर, जैसा कुछ भी हो, रूहानियत और ब्रह्म-विद्या का इल्म पायदार (टिकाऊ) है और रहेगा। 'वह शमा, क्यों बुझे जिसे रोशन ख़ुदा करे।'

हम सब तो समर्थ सद्गुरु के काम लिए मुअइयन (नियुक्त) नौकर

चाकर ही हैं। इस चाकरी का सिलसिला क़ायम रखना भी उस मालिके-कुल की ज़िम्मेदारी है। हाँ, यह ज़रूर है कि वह मालिके-कुल किसी अदना गुलाम को अपने बराबर का दर्जा अता (प्रदान) करके उसे समर्थ सद्गुरु मुअइयन (नियुक्त) कर दे, तो यह उसकी शान है; लेकिन इस तरह बा शाह के ज़रिये तख़्तो-ताज जिस को बख़्शा गया हो उसे अपनी हैसियत चाकर या गुलाम से ज़्यादा कभी न समझना ही उसकी अपनी आन-बान (वज़ादारी/सलीक़ा) है, जिसका मेऽआर यही है कि रूहानियत के इल्म पर सही माऽनों में अख़्तियार और उबूर (नियन्त्रण) हासिल हो और उस सिलसिले को फ़रोग़ देने की अहलियत पैदा हो जो कि समर्थ सद्गुरु की अहमियत और निस्बत की ख़ासियत है। यह बग़ैर पूरी सुपुर्दगी के मुमकिन (सम्भव) नहीं जिसका इनहसार भी मालिक के तहत है न कि गुलाम के। दूसरे उलूम (विद्याओं) से इस आऽला इल्म का यही ख़ास फ़र्क़ है।

●●●